प्रवेशांक
जुलाई - सितंबर, 2022

# स्वनिम

(सृजन और शोध की संदर्भित एवं पूर्व-समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका)

हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ. ग.)

# ताज़ बेगम

छैल जो छबीला, सब रंग में रंगीला
बड़ा चित्त का अड़ीला,
कहूं देवतों से न्यारा है।

माल गले सोहै, नाक-मोती सेत जो है कान
कुण्डल मन मोहै,
लाल मुकुट सिर धारा है ।

दुष्टजन मारे, सब संत जो उबारे ताज़
चित्त में निहारे
प्रन प्रीति करन वारा है ।

नन्दजू का प्यारा, जिन कंस को पछारा
वह वृन्दावन वारा,
कृष्ण साहेब हमारा है ॥

सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी,
बदनामी भी सहूंगी मैं ।

देवपूजा ठानी मैं, नमाज़ हूं भुलानी
तज़ कलमा-क़ुरआन
साड़े गुननि गहूंगी मैं ॥

श्यामला सलोना सिरताज सिरकुल्ले दिये
तेरे नेह दाग में निदाग ह्वै दहूँगी मैं ॥

नन्द के कुमार, कुरबान ताणी सूरत पै
हूं तो मुग़लानी,
हिन्दुआनी बन रहूंगी मैं ।

*- मुगल सम्राट औरंगजेब की भतीजी ताज़ बेगम ।*
*मथुरा से 2 किलोमीटर की दूरी पर उनकी समाधि बनी है ।*

# स्वनिम

सृजन और शोध की संदर्भित एवं पूर्व-समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका

प्रवेशांक, जुलाई - सितंबर, 2022

**संरक्षक**

**प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल**

कुलपति, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर

**समन्वयक**

**प्रो. शैलेंद्र कुमार**

कुलसचिव (कार्यवाहक), गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर

**प्रधान संपादक**

प्रो. देवेंद्र नाथ सिंह

**संपादक**

डॉ. गौरी त्रिपाठी

**सह-संपादक**

डॉ. रमेश कुमार गोहे

श्री मुरली मनोहर सिंह

डॉ. अनीश कुमार

**संपादक मण्डल**

डॉ. राजेश मिश्र

डॉ. शोभा बिसेन

डॉ. अखिलेश गुप्ता

डॉ. लोकेश कुमार

डॉ. अप्पासाहेब जगदाले

डॉ. अनुपमा कुमारी

**परामर्श मण्डल**

प्रो. अनुपमा सक्सेना

प्रो. प्रवीन कुमार मिश्रा

# स्वनिम

प्रवेशांक, जुलाई-सितंबर, 2022
सृजन और शोध की संदर्भित एवं पूर्व-समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका
Refereed and Peer-Reviewed Magazine



© सर्वाधिकार सुरक्षित
**वैधानिक चेतावनी -** स्वनिम में प्रकाशित रचनाओं के साथ हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर या संपादकों की सहमति होना आवश्यक नहीं है। समस्त कानूनी विवादों का न्यायक्षेत्र बिलासपुर, छत्तीसगढ़ होगा। सभी रेखाचित्र इन्टरनेट से साभार लिए गए हैं।



**संपादन :** अवैतनिक
**आवरण और साज-सज्जा :** डॉ. अनीश कुमार



## प्रकाशक व संपादकीय पता

**डॉ. गौरी त्रिपाठी**
सह-प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय)
कोनी, बिलासपुर (छ. ग.), पिनकोड - 495009
वेबसाइट - www.ggu.ac.in
ई-मेल - gauri.tripathi@ggu.ac.in
swanimhindiggv@gmail.com

# संदेश

**प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल**
**कुलपति**

मुझे में जानकर बेहद प्रसन्नता हो रही है कि गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा साहित्य और शोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण त्रैमासिक पत्रिका 'स्वनिम' का सम्पादन और प्रकाशन शुरू किया जा रहा है। साहित्य की नाना विधाओं में नवोन्मेष की दृष्टि से छत्तीसगढ़ का हमेशा से ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। छायावाद की पहली आलोचना मुकुटधर पांडेय ने यहीं से लिखी थी। यशस्वी लेखक माधवराव सप्रे ने पड़ोस के पेंड्रा कस्बा, जो कि अब जिला मुख्यालय हो चुका है, यहीं रहते हुए हिंदी की पहली कहानी 'टोकरी भर मिट्टी' लिखी थी। 'एक भारतीय आत्मा' कहे जाने वाले पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने 'पुष्प की अभिलाषा' जैसी कविता, जो कालांतर में स्वाधीनता संग्राम का राष्ट्रीय स्वर बन गयी, उसे बिलासपुर की केंद्रीय जेल में रहते हुए लिखा था। ऐसे में यहां के हिन्दी विभाग की रचनात्मक पहल स्वरूप 'स्वनिम' पत्रिका का सम्पादन और प्रकाशन गहरी आश्वस्ति देता है। हिन्दी विभाग की यह शुरुआत निश्चय ही शोध व साहित्य के खाली छूट गए पन्नों को भरने का कार्य करेगी।

हमें विश्वास है कि यह पत्रिका न केवल साहित्य तक सीमित रहेगी बल्कि मानविकी के दूसरे क्षेत्रों में जो कुछ महत्त्वपूर्ण रचा जा रहा है, उन सबका भी आईना बन कर निश्चित ही आने वाले समय में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी एक मुकम्मल पहचान बनाएगी।

वास्तव में साहित्य का विकास ही समाज का विकास है। साहित्य समाज और राजनीति को एक नया रास्ता दिखाता है। जैसा कि कभी प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है। 'स्वनिम' के माध्यम से समाज व साहित्य के अप्रतिम योगदान में हम सभी सहभागी बनेंगे। हमें पूरा विश्वास है कि यह पत्रिका अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होगी।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयास के लिए हिन्दी विभाग के समस्त सदस्यों व रचनाकारों को हार्दिक बधाई और शुभकामनाएं। **स्व**

# संदेश

**प्रो. शैलेंद्र कुमार**
**कुलसचिव (कार्यवाहक)**

अत्यंत प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर द्वारा हिन्दी साहित्य और समाज विज्ञान पर केन्द्रित शोध की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण त्रैमासिक पत्रिका **'स्वनिम'** का प्रवेशांक निकल रहा है। ज्ञातव्य है कि जुलाई माह में माननीय कुलपति महोदय प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल जी अपने कार्यकाल का एक वर्ष पूरा कर रहे हैं । उनके आगमन के बाद विश्वविद्यालय में कई नई गतिविधियों तथा नवीन नीतिगत मंचों की शुरुआत हुई। यह हम सभी के लिए गौरव का विषय है कि कुलपति जी द्वारा प्रथम वर्ष के कार्यकाल पूरा करने के अवसर पर **'स्वनिम'** के प्रवेशांक का लोकार्पण हो रहा है। माननीय कुलपति जी की दूरदर्शिता व साफ नीयत का ही यह परिणाम है जो आज इस रूप में भी क्रियान्वित हो रही है।

बिलासपुर की यह ऐतिहासिक धरती साहित्यिक गतिविधियों का केंद्र रही है। यहाँ से 'स्वनिम' का प्रकाशन हमें आशान्वित करता है कि पुनः हिन्दी साहित्य का केंद्र बनकर उभरेगा।

वास्तव में पत्रिका का प्रकाशन दुरूह कार्यों में से एक है । फिर भी माननीय कुलपति जी के संरक्षण में और हिन्दी विभाग के सम्पादन मण्डल द्वारा शुरू हुआ यह कार्य अवश्य अपनी एक राष्ट्रीय पहचान स्थापित करेगा। हमें पूरा विश्वास है कि यह पत्रिका अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होगी। इस प्रयास में तत्पर हिन्दी विभाग के समस्त प्राध्यापकों व रचनाकारों को हार्दिक बधाई और शुभकामनाएं। **स्व**

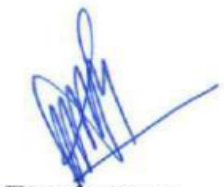

स्वनिम
प्रवेशांक, जुलाई-सितंबर, 2022
सृजन और शोध की संदर्भित एवं
पूर्व-समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका

# अनुक्रम


## संपादकीय

अरपा तीरे – 6

## विरासत

भोलाराम का जीव / **हरिशंकर परसाई** - 8

## आलोचना

एक आदिम रात्रि की महक / **डॉ. गौरी त्रिपाठी** - 12

## कहानी / लघुकथा

'क' से कबूतर / **जगदीश सौरभ** – 17

समय का फेर, उम्मीद का दीया / **मनीषा गिरि** - 16

एक और एक ग्यारह / **इन्दु बारौठ 'चारण'** - 24

जाँच / **सुनील कुमार 'सुमन'** - 65

## समय, समाज और संस्कृति

साहित्य में पानी / **मुरली मनोहर सिंह**- 22

**दर्दपुर** के विस्थापन में औरतें / **संगीता** - 25

## कविता / नवगीत / गज़ल

**दिनेश सागर** - 29 / **रमेश गोहे** - 31 / **हरिकेश गौतम** - 33 / **जगदीश पंकज** - 35

## जिजीवियन

**अनिष कुमार** - 34 / **पायल चतुर्वेदी** - 34 / **ओम सुनील पंडा**- 37

## शोध-आलेख

परिंदे : पाठ, दर-पाठ / **मोहन कुमार** - 39

लहर : युवा आक्रोश की सतहें / **डॉ. निकिता जैन** - 44

इतिहास में दर्ज होतीं दलित स्त्रियाँ / **रजनी प्रभा** - 54

मीरां का काव्य : मध्यकाल का स्त्री-स्वर / **संजय कुमार पटेल, डॉ. जया द्विवेदी** - 60

शिकंजे का दर्द : दलित साहित्य की बड़ी संभावना / **डॉ. अनिल कुमार** - 66

## साक्षात्कार

पाठक के आब्जर्वेशन्स आपके लेखन को और समृद्ध करते हैं - ज्ञान चतुर्वेदी / **ललित श्रीमाली** - 73

## समीक्षा

मास्टरबा : विडंबनाओं का यथार्थ / **मुक्तेश्वर मुकेश**- 83

## संपादकीय

# अरपा तीरे

**डॉ. देवेंद्र**

स्वनिम का यह प्रवेशांक अब आपके सामने है।

अरसे से यह इच्छा थी कि हिन्दी विभाग से एक ऐसी पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया जाये समकालीन हिन्दी की सर्जनात्मक श्रेष्ठता को बरकरार रखते हुए वर्तमान समय में लिखे जा रहे हिन्दी साहित्य की केंद्रीय पत्रिका बन सके। आज हिन्दी में पत्रिकाओं की कोई कमी नहीं है। हंस, कथादेश, पाखी, शब्दिता, कथाक्रम, अकार और तद्भव के क्रम में सैकड़ों नाम हैं जो अव्यावसायिक स्वरूप में निहायत निजी प्रयासों और संसाधनों के बल पर निरंतर निकल रही हैं, तब एक बड़े और केंद्रीय विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को क्यों नहीं इस बड़े दायित्व में सहभागिता करनी चाहिए ?

बीते समय में कभी बनारस और प्रयाग साहित्य के केंद्र हुआ करते थे; आज दिल्ली, भोपाल, लखनऊ और पटना हिन्दी साहित्य के नये केंद्र बन कर उभरे हैं। ऐसे में अरपा तीरे बसे अपने गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की यह कोशिश होगी कि मुकम्मल रचनाशीलता का एक ऐसा समानांतर केंद्र विकसित किया जा सके जो भले ही राष्ट्र के भौगोलिक और राजनीतिक मानचित्र के हाशिये पर अवस्थित हो, लेकिन जिसका स्वर और स्वरूप राष्ट्रीय और अखिल भारतीय हो। इसलिए भी कि हिन्दी की पहली कहानी यहीं बिल्कुल हमारे पड़ोस के पेंड्रा में **छत्तीसगढ़ मित्र** के यशस्वी संपादक माधव राव सप्रे द्वारा लिखी गयी थी- **टोकरी भर मिट्टी**। छायावाद की पहली आलोचना मुकुटधर पांडेय ने यहीं से लिखा था। यहीं के **केंद्रीय जेल** में माखन लाल चतुर्वेदी ने **पुष्प की अभिलाषा** जैसी कविता लिखी। आज साहित्य में छत्तीसगढ़ का अर्थ है **मुक्तिबोध**, श्रीकांत वर्मा का **मगध**, विनोद कुमार शुक्ल की गद्य-भाषा का वैभव।

हिन्दी रचनात्मकता के मानचित्र पर छत्तीसगढ़ की अपरिहार्य उपस्थिति के बावजूद इस अंचल से किसी साहित्यिक पत्रिका का अभाव हमेशा अखरता रहा है। **यही वजह है 'स्वनिम' के होने का।**

जो काम विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों को करना चाहिए उसे दूसरे लोग ज्यादा शिद्दत से कर रहे हैं। हिन्दी के नाम पर सबसे ज्यादा खाने वाले हम प्रोफेसरगण स्वप्नविहीन मुर्दा नींद के खर्राटे ओढ़े पड़े हैं। यही कारण है कि आज हिन्दी विभागों में सर्जनात्मकता का गहरा अकाल और सन्नाटा पसरा हुआ है।

नौकरी के लिए प्रकाशन की अनिवार्य शर्तों ने रचनात्मकता के नाम पर हिन्दी विभागों को एक विशाल और बदबूदार कूड़ाघर बनाकर रख दिया है । इन पत्रिकाओं में आज तक एक भी ऐसा लेख नहीं छपा, जिसकी कोई अनुगूंज साहित्यिक गोष्ठियों में सुनाई दी हो । हम नहीं चाहेंगे कि **स्वनिम** उसी लंबी फेहरिस्त में एक नाम भर बन कर रह जाय । हम कत्तई ऐसा नहीं चाहेंगे कि ऐसे किसी आलेख को **स्वनिम** में प्रकाशित होने दें जिसमें सिर्फ उद्धरणों की निर्जीव उबांसी भरी हुई हों।

हमें अनगढ़ता की कोई चिंता नहीं, बशर्ते विश्लेषण में मौलिकता की ताजगी हो । साहित्य के वृहत्तर सरोकार और सौंदर्य दृष्टि जरूर हो । विचारों की अंत्याक्षरी से बचते हुए अनुभवों की आत्मीय साझेदारी हो । एक रचनात्मक विजन हो ।

अगर आप साहित्य के अध्यापक हैं तो किसी न किसी स्तर पर हमें आपसे मौलिकता और नवीनता की उम्मीद रहेगी ही । सिर्फ साहित्य ही नहीं, इतिहास और समाजशास्त्र की नवीनतम परिघटनाओं में हमारे भीतर का क्या कुछ जो अमूल्य था, वह खोता जा रहा है, इसकी गहरी चिंता अवश्य दिखाई दे । अगर आप किसी रचना का पाठ प्रस्तुत कर रहे हैं तो उसका कोई न कोई अंश ऐसा जरूर हो, जो हमें समृद्ध करे । जिसका स्वर विसंवादी न हो । विचारों का जनतंत्र हो। असहमति का साहस और सहमति का विवेक हो । मनुष्यता का उल्लसित गान और प्रकृति का मनोरम संगीत हो ।

हमारी कोशिश रहेगी कि गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की यह पत्रिका सिर्फ हिन्दी साहित्य तक अपने को सीमित न रखे । मानविकी और सामाजिक विज्ञान के अलावा अन्य दूसरे अनुशासनों में जो कुछ महत्वपूर्ण लिखा और पढ़ा जा रहा है **स्वनिम** उन सबकी संवाहक बन सके ।

**स्वनिम** के इस प्रवेशांक को इस बार हम नमूने के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं । जब हम इसका दूसरा अंक प्रकाशित करेंगे तो इस विश्वास के साथ कि साहित्य की दुनिया में इसे नज़रअंदाज़ कर पाना किसी के लिए भी असम्भव हो ।

आगामी अंक के लिए लेखकों से अनुरोध रहेगा कि अपने लिखे से पूरी तरह संतुष्ट हो जाने के बाद ही प्रकाशन के लिए भेजें । गुणवत्ता और मौलिकता का जरूर ध्यान रखें । हम बेहद सम्मान के साथ आपको प्रकाशित करेंगे ।

हमारे विश्वविद्यालय का पिछवाड़ा ! खूब घने, कटीले पेड़ों और खंडहरों के बीच कोलतार की टूटी-फूटी पगडंडी से कभी-कभार कोई आदमी गुजरता दिखाई दे जाता । एक बहुत गहरे और अबूझ सन्नाटे की उदासी ओढ़े वहीं एक डाकघर है । उसके भीतर सुख-दुःख से भीगे अतीत की कितनी सारी कहानियां, कितनी सारी प्रेम कविताएं डाकघर के सामने लेटर बॉक्स में सिसकती रहतीं हैं । एक युग हो गया शायद ही इसका ताला कभी खोला गया हो । एक सजीव साहित्य !

मुझे लगा कि कवर पेज के लिए स्मृतियों के इस ध्वंस स्तूप से बेहतर कुछ न होगा । **स्वनिम** का यह अंक, जिसके प्रयासों से संभव हो रहा है, विभाग के हमारे सहयोगी मित्र असिस्टेंट प्रोफेसर डॉ. अनीश कुमार ने एक दिन जाकर अपने मोबाइल के कैमरे में उस डाकघर के सन्नाटे को कैद कर लिया ।

और इसी कड़ी में हम मुगलकाल के आखिरी बादशाह के आंगन में जा पहुंचे जहां अलगनी पर अटके कुछ धूसर और मटमैले पन्नों पर हमारी संस्कृति के छंद फड़फड़ा रहे थे । इस वैभवशाली विरासत को दूसरे कवर पेज के लिए ।

और अंत में, **जिजीवियन !** यानी गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के छात्रों का ट्रेडमार्क ! नयी कलम की बानगी ।

# भोलाराम का जीव

हरिशंकर परसाई

ऐसा कभी नहीं हुआ था...। धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफारिश के आधार पर स्वर्ग या नर्क में निवास-स्थान 'अलाट' करते या रहे थे- पर ऐसा कभी नहीं हुआ था।

सामने बैठे चित्रगुप्त बार-बार चश्मा पोंछ, बार-बार थूक से पन्ने पलट, रजिस्टर देख रहे थे। गलती पकड़ में ही नहीं आ रही थी। आखिर उन्होंने खीझकर रजिस्टर इतनी ज़ोर से बन्द किया कि मक्खी चपेट में आ गई। उसे निकालते हुए वे बोले, "महाराज, रिकार्ड सब ठीक है। भोलाराम के जीव ने पाँच दिन पहले देह त्यागी और यमदूत के साथ इस लोक के लिए रवाना हुआ, पर यहाँ अभी तक नहीं पहुंचा।"

धर्मराज ने पूछा, "और वह दूत कहां है?"

"महाराज, वह भी लापता है।"

इसी समय द्वार खुले और एक यमदूत बडा बदहवास-सा वहाँ आया। उसका मौलिक कुरूप चेहरा परिश्रम, परेशानी और भय के कारण और भी विकृत हो गया था। उसे देखते ही चित्रगुप्त चिल्ला उठे, "अरे तू कहाँ रहा इतने दिन? भोलाराम का जीव कहाँ है?"

यमदूत हाथ जोडक़र बोला, "दयानिधान, मैं कैसे बतलाऊँ कि क्या हो गया। आज तक मैंने धोखा नहीं खाया था, पर इस बार भोलाराम का जीव मुझे चकमा दे गया। पाँच दिन पहले जब जीव ने भोलाराम की देह को त्यागी, तब मैंने उसे पकड़ा और इस लोक की यात्रा आरम्भ की। नगर के बाहर ज्यों ही मैं उसे लेकर एक तीव्र वायु-तरंग पर सवार हुआ, त्यों ही वह मेरे चंगुल से छूटकर न जाने कहाँ गायब हो गया। इन पाँच दिनों में मैने सारा ब्रह्मांड छान डाला, पर उसका कहीं पता नहीं चला।"

धर्मराज क्रोध से बोले, "मूर्ख, जीवों को लाते-लाते बूढ़ा हो गया, फिर एक मामूली आदमी ने चकमा दे दिया।"

दूत ने सिर झुकाकर कहा, "महाराज, मेरी सावधानी में बिलकुल कसर नहीं थी। मेरे इन अभ्यस्त हाथों से अच्छे-अच्छे वकील भी नहीं छूट सके, पर इस बार तो कोई इन्द्रजाल ही हो गया।"

चित्रगुप्त ने कहा, "महाराज, आजकल पृथ्वी पर इसका व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को फल भेजते हैं, और वे रास्ते में ही रेलवेवाले उड़ा लेते हैं। हौज़री के पार्सलों के मोज़े रेलवे आफिसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डब्बे-के-डब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो रही है। राजनैतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ा कर कहीं बन्द कर देते हैं। कहीं भोलाराम के जीव को भी किसी विरोधी ने, मरने के बाद भी खराबी करने के लिए नहीं उड़ा दिया?"

धर्मराज ने व्यंग्य से चित्रगुप्त की ओर देखते हुए कहा, "तुम्हारी भी रिटायर होने की उम्र आ गई। भला, भोलाराम जैसे दीन आदमी को किसी से क्या लेना-देना?"

इसी समय कहीं से घूमते-फिमते नारद मुनि वहाँ आ गए। धर्मराज को गुमसुम बैठे देख बोले, "क्यों धर्मराज, कैसे चिंतित बेठे हैं? क्या नरक में निवास-स्थान की समस्या अभी हल नहीं हुई?"

धर्मराज ने कहा, "वहाँ समस्या तो कभी की हल हो गई, मुनिवर। नर्क में पिछले सालों से बड़े गुणी कारीगर आ गए हैं। कई इमारतों के ठेकेदार हैं, जिन्होंने पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनाईं। बड़े-बड़े इंजीनियर भी आ गए हैं जिन्होंने ठेकेदारों से मिलकर भारत की पंचवर्षीय योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होंने उन मज़दूरों की हाज़री भरकर पैसा हडपा, जो कभी काम पर गए ही नहीं। इन्होंने बहुत जल्दी नरक में कई इमारतें तान दी हैं। वह समस्या तो हल हो गई, पर एक विकट उलझन आ गई है। भोलाराम के नाम के आदमी की पाँच दिन पहले मृत्यु हुई। उसके जीव को यमदूत यहाँ ला रहा था, कि जीव इसे रास्ते में चकमा देकर भाग गया। इसने सारा ब्रह्मांड छान डाला, पर वह कहीं नहीं मिला। अगर ऐसा होने लगा, तो पाप-पुण्य का भेद ही मिट जाएगा।"

नारद ने पूछा, "उस पर इनकम-टैक्स तो बकाया नहीं था? हो सकता है, उन लोगों ने उसे रोक लिया हो।"

चित्रगुप्त ने कहा, "इनकम होती तो टैक्स होता। भुखमरा था।"

नारद बोले, "मामला बड़ा दिलचस्प है। अच्छा, मुझे उसका नाम, पता बतलाओ। मैं पृथ्वी पर जाता हूँ।"

चित्रगुप्त ने रजिस्टर देखकर बतलाया- "भोलाराम नाम था उसका। जबलपुर शहर के घमापुर मुहल्ले में नाले के किनारे एक डेढ क़मरे के टूटे-फूटे मकान पर वह परिवार समेत रहता था। उसकी एक स्त्री थी, दो लडक़े और एक लड़की। उम्र लगभग 60 वर्ष। सरकारी नौकर था। पाँच साल पहले रिटायर हो गया था, मकान का उस ने एक साल से किराया नहीं दिया था इसलिए मकान-मालिक उसे निकालना चाहता था। इतने मे भोलाराम ने संसार ही छोड दिया। आज पाँचवाँ दिन है। बहुत संभव है कि, अगर मकान-मालिक वास्तविक मकान-मालिक है, तो उसने भोलाराम के मरते ही, उसके परिवार को निकाल दिया होगा। इसलिए आपको परिवार की तलाश में घूमना होगा।"

माँ बेटी के सम्मिलित क्रंदन से ही नारद भोलाराम का मकान पहचान गए।

द्वार पर जाकर उन्होंने आवाज़ लगाई, "नारायण नारायण !" लड़की ने देखकर कहा, "आगे जाओ महाराज।"

नारद ने कहा, "मुझे भिक्षा नहीं चाहिए, मुझे भोलाराम के बारे में कुछ पूछताछ करनी है। अपनी माँ को ज़रा बाहर भेजो बेटी।"

भोलाराम की पत्नी बाहर आई। नारद ने कहा, "माता, भोलाराम को क्या बिमारी थी?"

"क्या बताऊँ? गरीबी की बिमारी थी। पाँच साल हो गए पैन्शन पर बैठे थे, पर पेन्शन अभी तक नहीं मिली। हर 10-15 दिन में दरख्वास्त देते थे, पर वहाँ से जवाब नहीं आता था और आता तो यही कि तुम्हारी पेन्शन के मामले पर विचार हो रहा है। इन पाँच सालों में सब गहने बेचकर हम लोग खा गए। फिर बर्तन बिके। अब कुछ नहीं बचा। फाके होने लगे थे। चिन्ता मे घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया।"

नारद ने कहा, "क्या करोगी माँ? उनकी इतनी ही उम्र थी।"

"ऐसा मत कहो, महाराज। उम्र तो बहुत थी। 50-60 रुपया महीना पेन्शन मिलती तो कुछ और काम कहीं करके गुज़ारा हो जाता। पर क्या करें? पाँच साल नौकरी से बैठे हो गए और अभी तक एक कौड़ी नहीं मिली।"

दुख की कथा सुनने की फुरसत नारद को थी नहीं। वे अपने मुद्दे पर आए, "माँ, यह बताओ कि यहाँ किसी से उनका विशेष प्रेम था, जिसमें उनका जी लगा हो?"

पत्नी बोली, "लगाव तो महाराज, बाल-बच्चों से होता है।"

"नहीं, परिवार के बाहर भी हो सकता है। मेरा मतलब है, कोई स्त्री....?"

स्त्री ने गुर्राकर नारद की ओर देखा। बोली, "बको मत महाराज ! साधु हो, कोई लुच्चे-लफंगे नहीं हो। जिन्दगी भर उन्होंने किसी दूसरी स्त्री को आँख उठाकर नहीं देखा।"

नारद हँस कर बोले, "हाँ, तुम्हारा सोचना भी ठीक है। यही भ्रम अच्छी गृहस्थी का आधार है। अच्छा माता, मैं चला।"

स्त्री ने कहा, "महाराज, आप तो साधु हैं, सिध्द पुरूष हैं। कुछ ऐसा नहीं कर सकते कि उनकी रुकी पेन्शन मिल जाय। इन बच्चों का पेट कुछ दिन भर जाए?"

नारद को दया आ गई। वे कहने लगे, "साधुओं की बात कौन मानता है? मेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं? फिर भी सरकारी दफ्तर में जाकर कोशिश करूँगा।"

वहाँ से चलकर नारद सरकारी दफ्तर में पहुँचे। वहाँ पहले कमरे में बैठे बाबू से भोलाराम के केस के बारे में बातें की। उस बाबू ने उन्हें ध्यानपूर्वक देखा और बोला, "भोलाराम ने दरखास्तें तो भेजी थीं, पर उनपर वज़न नहीं रखा था, इसलिए कहीं उड ग़ई होंगी।"

नारद ने कहा, "भई, ये पेपरवेट तो रखे हैं, इन्हें क्यों नहीं रख दिया?"

बाबू हँसा, "आप साधु हैं, आपको दुनियादारी समझ में नहीं आती। दरखास्तें पेपरवेट से नहीं दबती। खैर, आप उस कमरे में बैठे बाबू से मिलिए।"

नारद उस बाबू के पास गये। उसने तीसरे के पास भेजा, चौथे ने पाँचवें के पास। जब नारद 25-30 बाबुओं और अफसरों के पास घूम आए तब एक चपरासी ने कहा, "महाराज, आप क्यों इस झंझट में पड ग़ए। आप यहाँ साल-भर भी चक्कर लगाते रहें, तो भी काम नहीं होगा। आप तो सीधा बड़े साहब से मिलिए। उन्हें खुश कर लिया, तो अभी काम हो जाएगा।"

नारद बड़े साहब के कमरे में पहुँचे। बाहर चपरासी ऊंघ रहे थे, इसलिए उन्हें किसी ने छेडा नहीं। उन्हें एकदम विजिटिंग कार्ड के बिना आया देख साहब बड़े नाराज़ हुए। बोले, इसे कोई मन्दिर-वन्दिर समझ लिया है क्या? धड़धड़ाते चले आए ! चिट क्यों नहीं भेजी?"

नारद ने कहा, "कैसे भेजता, चपरासी सो रहा है।"

"क्या काम है?" साहब ने रौब से पूछा।

नारद ने भोलाराम का पेन्शन-केस बतलाया।

साहब बोले, "आप हैं बैरागी। दफ्तरों के रीत-रिवाज नहीं जानते। असल मे भोलाराम ने गलती की। भई, यह भी मन्दिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पडता है, भेंट चढानी पड़ती है। आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते हैं। भोलाराम की दरख्वास्तें उड़ रही हैं, उन पर वज़न रखिए।"

नारद ने सोचा कि फिर यहाँ वज़न की समस्या खड़ी हो गई। साहब बोले, "भई, सरकारी पैसे का मामला है। पेन्शन का केस बीसों दफ्तरों में जाता है। देर लग जाती है। हज़ारों बार एक ही बात को हज़ारों बार लिखना पडता है, तब पक्की होती है। हाँ, जल्दी भी हो सकती है, मगर" साहब रूके।

नारद ने कहा, "मगर क्या?"

साहब ने कुटिल मुस्कान के साथ कहा, "मगर वज़न चाहिए। आप समझे नहीं। जैसे आप की यह सुन्दर वीणा है, इसका भी वज़न भोलाराम की दरख्वास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूंगा। साधुओं की वीणा के अच्छे स्वर निकलते हैं। लड़की जल्दी संगीत सीख गई तो शादी हो जाएगी।"

नारद अपनी वीणा छिनते देख ज़रा घबराए। पर फिर सँभलकर उन्होंने वीणा टेबिल पर रखकर कहा, "यह लीजिए । अब ज़रा जल्दी उसकी पेन्शन का आर्डर निकाल दीजिए।"

साहब ने प्रसन्नता से उन्हें कुर्सी दी, वीणा को एक कोने में रखा और घंटी बजाई। चपरासी हाजिर हुआ।

साहब ने हुक्म दिया, "बड़े बाबू से भोलाराम के केस की फाइल लाओ।"

थोड़ी देर बाद चपरासी भोलाराम की फाइल लेकर आया। उसमें पेन्शन के कागज़ भी थे। साहब ने फाइल पर नाम देखा और निश्चित करने के लिए पूछा, "क्या नाम बताया साधुजी आपने?"

नारद समझे कि ऊँचा सुनता है। इसलिए ज़ोर से बोले, "भोलाराम।"

सहसा फाइल में से आवाज़ आई, "कौन पुकार रहा है मुझे? पोस्टमैन है क्या? पेन्शन का आर्डर आ गया क्या?"

साहब डरकर कुर्सी से लुढक़ गए। नारद भी चौंके। पर दूसरे क्षण समझ गए। बोले, "भोलाराम! तुम क्या भोलाराम के जीव हो?"

"हाँ।" आवाज़ आई।

नारद ने कहा, "मैं नारद हूँ। मैं तुम्हें लेने आया हूँ। स्वर्ग में तुम्हारा इन्तजार हो रहा है।"

आवाज़ आई, "मुझे नहीं जाना। मैं तो पेन्शन की दरखास्तों में अटका हूँ। वहीं मेरा मन लगा है। मैं दरख्वास्तों को छोडक़र नहीं आ सकता।" स्व

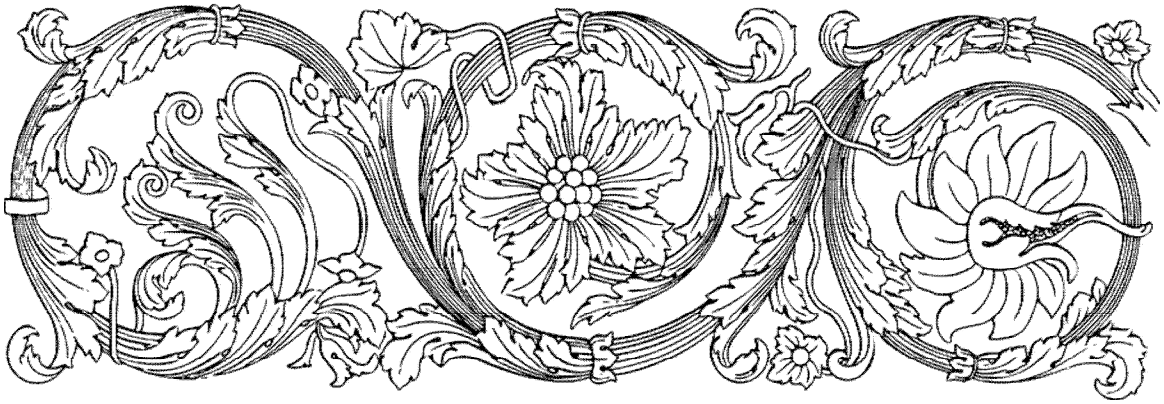

# एक आदिम रात्रि की महक

डॉ. गौरी त्रिपाठी

प्रेमचंद और रेणु की कहानियों के पार्श्वभूमि में जो गाँव आते हैं वे लगभग एक जैसे ही हैं। बावजूद इसके कि इन दोनों रचनाकारों की समयावधि में तीन दशक का अंतराल है, लेकिन उस दौर के इन तीन दशकों में सामाजिक या आर्थिक तौर पर कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ है। राजनीतिक सत्ता के केंद्र जरूर बदले लेकिन उसका असर गावों में बहुत ही कम दिखता है।

आज के समय में परिवर्तन की गति जितनी तीव्र है और जिस तेजी से हमारा यथार्थ बदलने लगा है जीवन और समाज को लेकर वैसी गतिमयता आज से छः-सात दशक पहले के उस दौर में नहीं थी। इसलिए यह मानने में कोई गुरेज नहीं कि प्रेमचंद और रेणु अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी शैली में औपनिवेशिक भारत के सीमांत पर बसे एक ही गांव की कहानी कहते हैं। इन गांवों में उतना ही अंतर है जितना बनारस और बिहार में। लेकिन प्रेमचंद की कहानी सुनते हुए आपको औपनिवेशिक भारत में किसानों के शोषण, उनकी बदहाली और टूटते विखरते गांव दिखाई देते हैं।और जब आप रेणु को पढ़ते हैं तो उन्हीं चिर परिचित अभावों के बीच चरित्रों के जीवन में उल्लास का मनोरम संगीत सा सुनाई देता है। जीवन यथार्थ का वैसा करुण रुदन रेणु के यहां नहीं है जैसा प्रेमचंद की कहानियों में सहज ही उपलब्ध है। उन्ही गांवों से उठाए गए रेणु के चरित्र आकर्षण पैदा करते हैं।गुदगुदाते हैं। रेणु के यहां स्थानीयता का रागरंग एक सम्मोहक और रोमानी वातावरण निर्मित करता है। भारतीय गांवों की मुकम्मल तस्वीर बिना इन दोनों रचनाकारों को मिलाकर नहीं बनती है।

हजारों साल की अपनी विकासयात्रा में नाना दुख और पीड़ाओं के बीच मनुष्यता ने प्रेम और श्रृंगार के गीत भी ख़ूब जी भर गाये हैं, जिसकी आत्मीय छाया ने प्रकृति को हरा-भरा कर दिया है। क्या यह नयी-नयी मिली आजादी के सपनों का उल्लास या नेहरू युग के सम्मोहन का असर भर है या एक समर्थ रचनाकार के अंतर्मन की बनावट ही प्रेमचंद से बिल्कुल भिन्न है। मैं यहां कई सारी कहानियों का उल्लेख करना चाहती हूं जो फिलहाल मुझे एक साथ याद आ रही हैं। पंचलैट, रसप्रिया, तीसरी कसम,

लालपान की बेगम। आप इन कहानियों के परिवेश और इस परिवेश में चरित्रों के जीवन को देखिए । एक सांस्कृतिक रंग में जीवन के उल्लास का रोमांटिक आस्वाद आपको हर जगह दिखाई देता है। अभावों से भरे पूरे यथार्थ का पसरा हुआ ऐसा रोना और सिर्फ रोना ही नहीं है कि आप वहां से पलायन ही कर जाएं। रेणु के गांव और वहां के चरित्र उनका जीवन, जैसा भी है, वे उसे जी भर कर जीने में विश्वास करते है। इसी रूप रंग में वे हमें आकर्षित भी करते हैं।

'एक आदिम रात्रि की महक' लावारिश बचपन से भरे अनाथ लड़के करमा की कहानी है। ट्रेन के डब्बे में किसी के द्वारा छोड़ दिया गया शिशु करमा स्टेशन को ही अपना गांव और घर बना लेता है । सीधे सादे ढंग से बताई गई इस बात में भी कितनी करुणा है। लेकिन खूबी यह कि करमा किसी किस्म के करुणा की कोई नुमाइश नहीं करता है । उसका जीवन ही फकीरी का ठाट है। उसकी स्मृतियों में भी मां-बाप या कोई सगा रिश्ता नहीं है, लेकिन घोष बाबू से सारी आत्मीयता और लगाव के बावजूद वह उन का साथ इसलिए छोड़ देता क्योंकि वह उसे "मादर...." की गाली देते थे। घोष बाबू की सामान्य बोलचाल की भाषा ही गाली से रची बसी थी। जैसा कि ऊपर बताया गया है, लावारिस करमा के जीवन में कोई अपना सगा रिश्ता नहीं है। वह एक साथ राष्ट्र, जाति, धर्म से परे एक मुकम्मल मनुष्य है। रिश्ते के नाम पर उसके जीवन में पहली और आखिरी बार सिर्फ गोपाल बाबू ही आये थे। उसके लिए मां बाप सब कुछ गोपाल बाबू ही थे। वह वजह-बेवजह जब तब उन्हें ही याद करता है -

**'एक आदिम रात्रि की महक' लावारिश बचपन से भरे अनाथ लड़के करमा की कहानी है। ट्रेन के डब्बे में किसी के द्वारा छोड़ दिया गया शिशु करमा स्टेशन को ही अपना गांव और घर बना लेता है । सीधे सादे ढंग से बताई गई इस बात में भी कितनी करुणा है । लेकिन खूबी यह कि करमा किसी किस्म के करुणा की कोई नुमाइश नही करता है । उसका जीवन ही फकीरी का ठाट है।**

"जा रे गोपाल बाबू! वैसा बाबू अब कहाँ मिले? करमा का माय-बाप, भाय-बहिन, कुल-परिवार जो बूझिए - सब एक गोपाल बाबू! ...बिना 'बिलटी-रसीद' का लावारिस माल था, करमा। रेलवे अस्पताल से छुड़ा कर अपने साथ रखा गोपाल बाबू ने। जहाँ जाते, करमा साथ जाता। जो खाते, करमा भी खाता। ...लेकिन आदमी की मति को क्या कहिए ! रिलिफिया काम छोड़ कर सालटानी काम में गए। फिर, एक दिन शादी कर बैठे। ...बौमा ...गोपाल बाबू की 'फैमली' - राम-हो-राम! वह औरत थी? साच्छात चुड़ैल! .."

ऐसी थी गोपाल बाबू की वह फेमिली बौमा- "एक ही साल में गोपाल बाबू को 'हाड़-गोड़' सहित चबा कर खा गई, वह जनाना! फूल-जैसे सुकुमार गोपाल बाबू! जिंदगी में पहली बार फूट-फूट कर रोया था, करमा।"

हीरामन की तरह करमा भी तबसे एक अघोषित कसम खा लेता है कि वह अबसे कभी ऐसे बाबू लोगों के साथ नहीं रहेगा, जिनकी फेमिली है। बौमा की वजह से उसके मन में सदा सदा के लिए ऐसी स्त्री विरक्ति हुई कि करमा स्टेशन के जनाना वार्ड की ओर भी न जाता।

"जनाना नाम से ही करमा को उबकाई आने लगती है।"

वह स्टेशन पर रहने वाले कुछ रिलीफिया बाबू लोगों के साथ रहता है। नौकर बनकर नहीं। वह उन लोगों के साथ उनका काम करता है, लेकिन किसी से पगार नहीं लेता। जैसे घर में काम बंटे होते हैं, किसी को कोई पगार नहीं मिलती। करमा के अब तक के जीवन में कई सारे घर बने, लेकिन किसी घर में उसका कोई हिस्सा न था। वर्ग और वर्ण विभाजन के दायरे में कुछ वास्तविक और कुछ बनावटी शोषण का आख्यान रचते-तलाशते

कथाकारों और उनके आलोचकों को करमा का ऐसा होना एक मुश्किल जरूर खड़ी करता है। देखा जाय तो करमा का समूचा जीवन ही एक मार्मिक कहानी है। एक ऐसा यथार्थ जो उसे याद भी नहीं। जिसकी छाया भर बस एक बार दिखाई देती है- "हजार बार, लाख बार कोशिश करके भी अपने को रेल की पटरी से अलग नहीं कर सका, करमा। वह छटपटाया। चिल्लाया, मगर जरा भी टस-से-मस नहीं हुई उसकी देह। वह चिपका रहा। धड़धड़ाता हुआ इंजिन गरदन और पैरों को काटता हुआ चला गया। ...लाइन के एक ओर उसका सिर लुढ़का हुआ पड़ा था, दूसरी ओर दोनों पैर छिटके हुए! उसने जल्दी से अपने कटे हुए पैरों को बटोरा- अरे, यह तो एंटोनी 'गाट' साहब के बरसाती जूते का जोड़ा है! गम-बूट!...उसका सिर क्या हुआ?..धेत, धेत! ससुरा नाक-कान बचा रहा...!"

विडंबना अगर किसी सामाजिक संरचना में हो तो संघर्ष के लिए रास्ता भी बनता है, लेकिन नियति की उसी विडंबना से अगर आपका वजूद ही बना हो तो क्या करमा ? क्या कबीर ?

घोष बाबू से अलग होकर करमा राम बाबू के साथ रहने लगा। इश्किया मिज़ाज़ वाले राम बाबू पूरे दिन लुगाई लोगों के जुगाड़ में रहते- "कभी मालगोदाम की ओर तो कभी जनाना मुसाफिरखाना में, तो कभी जनाना-पैखाना में...छिः छिः...जहाँ जाते छुछुआते रहते- 'क्या जी, असल-माल-वाल का कोई जोगाड़ जंतर नहीं लगेगा?'..."

अब करमा की क्या औकात जो उन्हें मना करता, लेकिन रामबाबू का इस तरह औरतों के पीछे-पीछे छिछियाना उसे अच्छा न लगता- "आखिर वही हुआ जो करमा ने कहा था- 'माल' ही उनका 'काल' हुआ। पिछले साल, जोगबनी-लाइन में एक नेपाली ने खुकरी से दो टुकड़ा काट कर रख दिया। और उड़ाओ माल! ...जैसी अपनी इज्जत वैसी पराई !"

जैसे उनकी स्त्री इच्छा में प्रेम का कोई तत्व नहीं था, उसी तरह उनकी मृत्यु में कोई करुणा नहीं। कोई ट्रेजडी नहीं। लेकिन करमा अपनी नियति और ट्रेजडी का मनमौजी फक्कड़ राग गाते-गुनगुनाते पूजेगरी सिंघ जी के साथ रहने लगता है। यहां तो अजीब मुश्किल है- "जहाँ कुछ छुओ कि हूँहूँहूँ-हाँहाँहाँ-अरेरेरे-छू दिया न? ...ऐसे छुतहा आदमी को रेल-कंपनी में आने की क्या जरुरत? ...सिंघ जी का साथ नहीं निभ सका।"

इस स्टेशन से उस स्टेशन तक तरह-तरह के लोगों के साथ रहते हुए पांचवे ठिकाने के रूप में गोपाल बाबू के बाद करमा को अबकी बार दरियादिल आदमी साहू बाबू मिले। दिन में भी दारू चढ़ाए रहते। एक दिन इसी नशे की हालत में गाड़ी को गलत पास दे दिया। भारी एक्सीडेंट हो गया। चारो ओर कुहराम मच गया। एक्सीडेंट की बात सुनकर साहू बाबू ने एक बोतल और चढ़ा ली। डॉक्टर ने उनका दिमाग खराब होने की रिपोर्ट दी तब जाकर नौकरी तो खत्म हो गयी लेकिन साहू बाबू बच गए। इसके बाद अभी कुछ दिन पहले ही छठे बाबू के साथ करमा इस आदमपुर स्टेशन पर आया है।

"बस, नाम ही आदमपुरा है- आमदनी नदारद। सात दिन में दो टिकट कटे हैं और सिर्फ पाँच पासिंजर उतरे हैं, तिसमें दो बिना टिकट के। ...इतने दिन के बाद पंद्रह बोरा बैंगन उस दिन बुक हुआ। पंद्रह बैंगन दे कर ही काम बना लिया।"

इस नये-नये बने स्टेशन की दीवालों से चूने और वार्निश की तीखी गंध "गमछे से नथुने को साफ करते हुए करमा ने कहा- 'यहाँ नींद कभी नहीं आएगी, मैं जानता था, बाबू!'

इसी अधजगी नींद वाली रात को स्मृतियों में करमा की जिंदगी की परतें एक- एक कर खुलती जाती हैं। आसपास के ढेर सारे स्टेशन, ढेर सारे चरित्र जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, और कुछ जो बिना किसी कथानक के करमा के आसपास से गुजर जाते हैं। निताय बाबू उसे कोरमा कहते थे। असगर बाबू करम करम। कुली कुल के मस्तान बाबा के निर्गुण आदि-आदि। नींद न आने की दशा में स्मृतियों का आना- जाना लगा रहता है। इसी बीच- "कुतवा फिर गश्त लगाता हुआ आया। यह कातिक का महीना है न! ससुरा पस्त हो

कर आया है। हाँफ रहा है।...ले, तू भी यहीं सोएगा? ऊँह! साले की देह की गंध यहाँ तक आती है- धेत! धेत!" इसी बीच करमा को नींद आती है और उसकी जिंदगी का यथार्थ सपने की शक्ल में दिखाई देता है। वह देखता है कि वह ट्रेन की पटरी पर कटा पड़ा है। पैर अलग, सिर अलग। अपने कटे हुए पैर को बटोर रहा है तभी एंटोनी गॉट साहब का बरसाती जूता वहीं पड़ा हुआ दिख जाता है।

आदमपुरा स्टेशन की पहली रात को देखा हुआ करमा का यह पहला सपना ही उसके जीवन यथार्थ की फैंटेसी है। अभी दूसरा सपना बाकी है। इन्हीं दोनों सपनों के बीच स्मृतियों के सहारे उसके जीवन यथार्थ की यह पूरी कहानी रची गई है। एक दिन जब वह स्टेशन के पार खेतों के रास्ते आगे गांव की ओर जाता है- "धनखेतों से गुजरनेवाली पगडंडी पकड़ कर करमा चल रहा है। धान की बालियाँ अभी फूट कर निकली नहीं हैं।"

"इधर, 'हथिया-नच्छत्तर अच्छा 'झरा' था। खेतों में अभी भी पानी लगा हुआ है।.... है। मछली?...पानी में माँगुर मछलियों को देख कर करमा की देह अपने-आप बँध गई। वह साँस रोक कर चुपचाप खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे खेत की मेंड़ पर चला गया। मछलियाँ छलमलाईं।" गांव की ओर जाते हुए करमा देखता है- झलमलाती मछलियां, धान की बालियां अभी फूट कर नहीं निकली हैं।

हथिया नक्षत्र आदि का तारतम्य तो एकदम दुरुस्त है, पर अभी दो- चार दिन ही पहले कुत्ते वाले प्रसंग रेणु जी ने बताया था कि महीना कातिक का है। फिर कातिक के महीने में धान की बालियों का अभी-अभी फूटा होना, हथिया नक्षत्र आदि का कोई तुक समझ में नहीं आता। फिल्मी दृश्य विधानों में तो सब कुछ सम्भव है। वहां किसी की कोई जिम्मेदारी और जवाबदेही भी न है, लेकिन रेणु तो आंचलिक कथाकार हैं। पूर्णिया के अंचल में छत्तीसगढ़ी लोकगीत की धुन कैसे संभव कर सकेंगे। अगर मन और मौसम की रुमानियत दिखाने के लिए धान की दूधइली बालियां, हथिया नक्षत्र आदि ही जरूरी हों, तब तो कोई बात नहीं, वरना पके धान की महक से भी गांवों में फैले-फूले भरपूर रोमांस को दिखा सकते थे। अगर एक रात पहले कुत्ते के प्रसंग में महीना कातिक का था तो मात्र दो-तीन दिन बाद ही सावन भादो की नमी कहां से आ जायेगी? अस्सी की स्पीड में भागती गाड़ी में अचानक बैक गीयर ! अगर आंचलिक कथाकार की कहानी में भी मौसम की लय न हो तो स्मृतियों का कोलाज करमा के डरावने सपने की तरह कट-फट कर छितरा जाएगा।

आगे गांव में करमा को सुरसतिया दिख जाती है। हीरामन के हीराबाई की ही तरह। दूधइली बालियों में संकेत पहले ही मिलने लगा था-

"एक दिन फिर आना।'

'अपना ही घर समझना!'

लौटते समय करमा को लगा, तीन जोड़ी आँखें उसकी पीठ पर लगी हुई हैं। आँखें नहीं - डिसटन-सिंगल, होम-सिंगल और पैट सिंगल की लाल गोल-गोल रोशनी!"

करमा अपने स्टेशन पर लौट आता है। उसी रात को आशंकाओं से लिपटी उम्मीदें कुनमुनाने लगी हैं- "न ...आज रात भी करमा को नींद नहीं आएगी। नहीं, अब वार्निश-चुने की गंध नहीं लगती।..."

असल बात दूसरी और बहुत गहरी है- "...करमा क्या करे? ऐसा तो कभी नहीं हुआ। ...'एक दिन फिर आना। अपना ही घर समझना। ...कुटुम है..."

इसी परिप्रेक्ष्य में कहानी का मर्म और शीर्षक का अर्थ खुलता जाता है। रात के एकांत में रची बसी महक जितनी आदिम और आकर्षक है, गोपाल बाबू की चुड़ैल फेमिली बौमा के अनुभव करमा के दूसरे वाले सपने में एक साथ मूर्तमान हो उठते हैं- "फैमिली-क्वाटर से एक औरत चिल्लाने लगी- 'चो-ओ-ओ-र!' वह भागा। एक इंजिन उसके पीछे-पीछे दौड़ा आ रहा है। ...मगहिया डोम की छौंड़ी? ...तंबू में वह छिप गया। ...सरसतिया खिलखिला कर हँसती है। उसके झबरे केश, बेनहाई हुई देह की गंध, करमा के प्राण में समा गई। ...वह डर कर

सरसतिया की गोद में ...नहीं, उसकी बूढ़ी माँ की गोद में अपना मुँह छिपाता है। ...रेल और जहाज के भोंपे एक साथ बजते हैं। सिंगल की लाल-लाल रोशनी...।"

प्रेमचंद के पात्र हंसते खेलते किसी भी कहानी के कथानक में दाखिल होते हैं और धीरे- धीरे टूटते जाते है। उनके टूटने विखरने में औपनिवेशिक दौर के भारतीय गांवों की कहानी होती है। किसानों के रोजमर्रा की चिर परिचित त्रासदी होती है। वहां एक ऐसा यथार्थ दिखाई देता है जिसमें करुणा होती है। लेकिन रेणु के वही गांव अपने आंचलिक वेश- विन्यास के साथ तरह तरह की चुहलबाजी से भरे इतराते- इठलाते दिखाई देते हैं। अपने अभाव और उपेक्षा के बावजूद एक नैसर्गिक संगीतात्मकता से भरा सम्मोहन पैदा करते हैं। अगर प्रेमचंद के यहां सामाजिक संरचना की विडम्बनाएं और विसंगतियां हैं तो रेणु के यहां मानव मन की अनेकानेक भाव छवियाँ हैं। एक जैसे ही यथार्थ के भीतर जीवन को देखने का अलग अलग नजरिया है। श्रम और संघर्ष के बीच जीवन की करुणा ही नहीं, मानवता का उदात्त स्वर और संगीत भी गूंजता है। रेणु इसी संगीतात्मकता के कथाकार हैं। स्व

**लघुकथा**

# समय का फेर, उम्मीद का दीया

**मनीषा गिरी "मनमुग्ध"**

आज गुड़िया को डॉक्टर साहब ने जवाब दे दिए, "आप बस दो - तीन महीने की मेहमान है बस"

गुड़िया को सांस की गंभीर बीमारी हो गई थी समय पर आपरेशन नहीं हो पाया, अब वह ज्यादा बढ़ गया है। दवा भी बेअसर थी, फिर भी डाक्टर कुछ दवा लिखे और परहेज बता दिए।

गुड़िया अकेली थी। छोटा सा बंगला और बड़ा सा लॉन था।

जहां वह अकेली रहती थी और घरेलू सभी कार्य अपने आप कर लेती थी। काम की उलझनों में उलझे हुए दिन कब बीत जाता पता भी नहीं चलता था।

डाक्टर की बात को उन्होंने किसी से नहीं किया और ना हताश हुई, घर आकर पूरे लॉन को खोदने लगी। फिर पूरे जगह तरतीब से किस्म किस्म पड़े-पौधे लगाए, किनारे तरफ अमरुद, कटहल, बेलपत्र और नीम के पौधे रोप दिए। बेलपत्र के पौधे के साथ उसका प्रेम जीवंत था क्योंकि उसके प्रेमी ने भी उसके लिए बेलपत्र का पौधा लगाया था, क्योंकि एक कहावत सुनी होगी कि व्यक्ति आता जाता रहता है परन्तु उसका प्रेम और नाम दुनिया में हमेशा जीवित रखती लोगों के जरिए। वहीं नीम के पड़े पर सावन में झूला झूलना बहुत पसंद था, कटहल के साथ उसकी हॉस्टल की यादें जुड़ी थी जो हमेशा उसे याद आती तो उसके चेहरे पर मुस्कान आ जाती थी। आज भी वो उन दिनों को भूली नहीं है।

अपने हाथ से अपनी रुचि के भोजन बनाते और सुबह शाम लॉन में अपना समय बिताते, हिन्दी साहित्य की विद्वान होने के कारण उन्हें साहित्य से अथक प्रेम था। वह जब कुछ भी कर और मन में भाव आते तो उन्हें लिख लेती, उनकी डायरी में अनेकों कविताएं और भाव मन के अंदर दूर तक फैला हुआ सन्नाटा और प्रेम उकेरती है। घर में से किताबें और उनका एह सास कभी नहीं जाएगा। शाम होते ही दोस्तों की महफिल लगा खूब ठिठोली करती, फिर संगीत लगा के गुनगुनाते हुए खाना बना कर खाती और बेफिक्र सो जाती।

समय निकलता गया, उनके लॉन की चर्चा घर-घर होने लगी, सब देखने आते कई प्रश्न पूछते...वो बस मुस्कुरा देती।

एक दिन वही डाक्टर अपने परिवार के साथ लॉन देखने आये, वह गुड़िया को देखकर दंग रह गये क्योंकि वह गुड़िया से दो साल पूर्व न बचने की बात की थी। परंतु आज दो साल हो गये गुड़िया निरोग, स्वस्थ व मस्त लग रही थी। स्व

# 'क' से कबूतर

जगदीश सौरभ

बहुत देर तक सोचने पर भी मुझे उसका कोई नाम नहीं समझ आया, इसलिए मैं उसे कबूतर ही कहूँगा। जैसे मैंने अपने नीले रंग के लैपटॉप का नाम नीलोफ़र और सेकेंड हैंड कार का नाम बनमुर्गी रखा था, मैं उसका भी कोई ना नाम रखना चाहता हूँ, लेकिन कुछ सूझ नहीं रहा है इसकी कुछ वजहें हो सकती हैं। लैपटॉप से मुझे बहुत प्रेम था, क्योंकि उसने मेरी ज़िंदगी से जितना समय लिया है, उससे बहुत कुछ ज़्यादा ही दिया है। आठ-दस साल के लंबे समय में वह सुख और दुख का साथी था। कार के नाम की अलग कहानी है। एक बार जब मैं उसे चलाते हुये एक जंगल से गुज़र रहा था तो मुझे सिगरेट पीने की तलब लगी। एक जगह रुक कर सिगरेट पीते हुये मैं कार को गौर से देखने लगा तो जंगल के बिल्कुल गाढ़े-हरे माहौल में दूर खड़ी आसमानी रंग की कार मुझे किसी बनमुर्गी की तरह दिखाई पड़ी। इसलिए मैंने उसका नाम उसी वक्त बनमुर्गी रख दिया। कबूतर से मुझे कोई लगाव नहीं था। शायद यही वजह है कि मुझे उसका कोई नाम नहीं सूझ रहा था।

वह कबूतर मुझे कब दिखना शुरू हुआ, बहुत दावे से नहीं कहा जा सकता। आप सोचेंगे कि इसमें दावा करने वाली वैसे भी कोई बात नहीं है। मेरा भी यही मानना है कि इस बात का कोई मतलब नहीं है कि वह मुझे कब दिखना शुरू हुआ। शायद किसी दिन बरसात के समय अपना सिर छुपाने के लिए छज्जे के ठीक नीचे मेरी खिड़की की ग्रिल पर दुबका हुआ। शायद सामने के फ्लैट की खिड़की के मटमैले छज्जे के ऊपर बैठा ऊँघता हुआ। शायद बालकनी की रॉड पर बैठा अपने पंख खुजाता हुआ या फिर किचन के एग्जॉस्ट फैन की दड़बेनुमा छोटी सी जगह पर सुस्ती में आँखें मलकाता हुआ। यह भी हो सकता है कि पहले वह देखा नहीं सुना गया हो। एक अजीब सी मरियल और उबासी भरी गुटरगूं का उच्चारण करता और अपने पंख फड़फड़ाता हुआ। एक नए शहर में भीड़भाड़ से काफी दूर और एकांत में बनी बिल्डिंग में रहने के कई फ़ायदों के अलावा सबसे बड़ा नुकसान यह था कि यहाँ हर आवाज़ बहुत बारीकी से सुनी जा सकती थी। ऊपर के फ्लैट में रहने वाला अपना फ्लश भी चलाता तो लगता कि एक झटके के साथ सारी गंदगी मेरे सिर पर आ गिरेगी। सिलेन्डर हटाने, चारपाई सरकाने, दरवाज़ा खोलने बंद करने, वाशिंग मशीन के चलने और यहाँ तक कि लिफ्ट किस

फ्लोर से किस फ्लोर तक जा रही है, घर के अंदर बैठे-बैठे इसका भी अनुमान लगाया जा सकता था । ऐसे सुनसान माहौल में, जिससे मुझे बहुत समस्या नहीं थी, यह बेहूदा कबूतर दिन में कई-कई बार अपनी हाज़िरी दर्ज़ करा जाता । मैं मानता हूँ कि बेहूदा शब्द कबूतर के लिए थोड़ा सख्त है, लेकिन आप मेरी रहमदिली पर मर मिटेंगे जब मैं यह कहूँगा कि मेरे पास उस कबूतर के पैर तोड़ देने के बहुत सारे मौके होने पर भी मैंने उसे जाने दिया । बावजूद इसके कि वह मेरे एकांत में कितना दखल पैदा करता है, यह मैं ही जानता हूँ । आप तब मुझे और अच्छा आदमी समझेंगे, जब मैं यह बताऊंगा कि वह कबूतर मुझे तंग करनेके इस काम में कई दफा अपने कुछ और साथियों को भी शामिल करता था ।

मैं उसे खूब पहचानता हूँ । आप सोच रहे होंगे कि किसी कबूतर को व्यक्तिगत रूप से पहचानना कितना फुर्सत का काम हो सकता है । लेकिन यकीन मानिए मेरे पास उतनी फुर्सत बिलकुल भी नहीं थी और इसके बावजूद मैं उसे ठीक से पहचानता था । यह बहुत ही विडंबनापूर्ण बात है । मैं उसे पहचानता हूँ उसकी आँखों के लाल घेरे से, उसकी ऊपर-नीचे होती हुई भद्दी तिरछी गर्दन से और छज्जे पर पालथी जैसा मारकर मेरी खिड़की के अंदर एकटक झाँकने के अंदाज़ से । वैसे कबूतर और भी ढेर सारे हैं दिखने में उससे अच्छे और खराब दोनों तरह के, लेकिन मैं फिर भी इसे पहचानता हूँ । अगर इसे पहचानने के बारे में आखिरी कोई बात कहनी होगी तो मैं यही कहूँगा कि इसको देखते हुये जो चिढ़ मेरी आँखों में पैदा होती है, वही इसकी सबसे पक्की पहचान है ।

इस कबूतर से मुझे चिढ़ क्यों है ? कहीं किसी पक्षी से चिढ़ना बुढ़ापे की निशानी तो नहीं है ? अगर आप यह सोचते हैं तो बिलकुल ग़लत हैं । मैं तो गुरु नानक के मिजाज का आदमी हूँ, जो चिड़ियों को अपना ही खेत चुगने तक उन्हें देखता है, फिर भी हड़ा-हड़ा करके उन्हें भगाता नहीं है । जो घर वालों के कोसने पर इतना भर कहता है कि 'रब दी चिड़िया, रब दा खेत ।' बुढ़ापे की निशानी से मैं इसलिए भी सहमत नहीं हो सकूँगा क्योंकि मैंने अपने बचपन में बुढ़ापे की पर्याप्त मिसालें देखी हैं । मैं बहुत से नजदीकी बुढ़ापों से गुज़र चुका हूँ । मेरे दादा जी एक बूढ़े और बदमिजाज़ किस्म के आदमी रह चुके थे । उन्होने एक अमरूद के पेड़ से ढेर सारे नन्हें बतिए इसलिए गुस्से में तोड़कर फेंक दिये थे कि न रहेगा अमरूद न, न उसकी ताक में रहेंगे मुहल्ले के शरारती बच्चे । शुक्र है उन्होंने पेड़ नहीं काटा । उस वक्त मेरे जेहन में यह सवाल भी आया था कि इतनी ही चिढ़ थी तो पेड़ क्यों नहीं काट दिया ! मैं उनसे सवाल नहीं पूछ सका, क्योंकि मैं इसकी वजह और बेतुका सवाल पूछने का संभावित नतीजा जानता था ।

फिर मैं इस कबूतर से क्यों चिढ़ता हूँ । समस्या यह है कि जब कभी यह मेरी खिड़की के सामने नहीं होता और जैसे ही मैं इस खयाल से खुश होने ही वाला होता हूँ, यह खिड़की के ठीक सामने एक बार ऊपर और एक बार नीचे इस तरह से पंख फड़फड़ाकर कलाबाजियाँ दिखाता जैसे किसी देश की शक्तिशाली वायु सेना कोई शक्ति प्रदर्शन कर रही हो । एक दिन जब मैं बहुत गहराई से जीवन के किसी सवाल में उलझा हुआ अपनी डायरी के कागज काले कर रहा था तो मैंने देखा कि वह कबूतर ठीक मेरी आँखों के सामने उसी छज्जे पर किसी मासूम सी कबूतरी की इज्ज़त के साथ खिलवाड़ कर रहा था । मुझे कबूतरी से सहानुभूति महसूस हुई । मैं कबूतरी से कहना चाहता था कि "बहन ! तुमने बहुत बेहूदा साथी चुना है ।"

एक दिन मैंने चाय की तलब महसूस होने के बाद किचन का दरवाज़ा खोला ही था कि एक भयानक फड़फड़ाहट की आवाज़ से डर गया । खिड़की ज़रा सी खुली रह गयी थी और कबूतर ग़लती से किचन में फँस गया था । हालांकि मेरा मानना है कि उसने यह जानबूझकर किया होगा क्योंकि जिस खिड़की से मुझे यह दिखता है, मैंने कई दिनों तक उसके पर्दे लगा रखे थे । मेरे निजी जीवन में ताका-झांकी का उसका ज़रूर यह कोई नया तरीका होगा । खिड़की से निकल भागने की उसकी नाकामयाब कोशिश में संभव है उसे कुछ चोट भी लगी होगी । मेरी एक लड़की दोस्त ने बारिश में भीगे हुये और घायलकबूतर के जख्म पर

एक बहुत भावुक कविता लिखी है। यह कबूतर जैसा था, मुझे पूरा भरोसा था कि इसकी वजह से मुझे और कबूतरों से भी चिढ़ हो जाएगी। मैंने तय किया कि आज ही उस लड़की को फोन करूंगा और कबूतर के ज़ख्म पर लिखी उस कविता में निवेश की गयी पीड़ा, दर्द और सहानुभूति को किसी और पशु या पक्षी पर शिफ़्ट करने की सलाह दूंगा। मैं उसे बताऊंगा कि कालबोध और इंद्रियबोध की सजगता के साथ काव्य प्रयोजन भी उपयुक्त होना चाहिए। जीवन के लंबे और पीड़ादायक अनुभवों से अर्जित की हुई सूक्ष्म और गहन संवेदनाओं को किसी बेकार से पक्षी पर खर्च करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है !

बहरहाल मैं चाय बनाना स्थगित नहीं कर सकता था क्योंकि कबूतर को उसके हाल पर छोड़ देना या फिर उसके सही सलामत निकल जाने के लिए समय देना मुझे अपनी तौहीन सी लगी। मैंने खिड़की खोलने के लिए जैसे ही हाथ बढ़ाया, कबूतर ने घबराकर तेज़ छटपटाहट के साथ किचन का एक चक्कर लगाया। कुछ खाली डिब्बे और कार्टन गिराने के बाद वह फिर उसी जगह वापस बैठ गया। चाय बनाते हुये मुझे एक दफ़ा यह खयाल भी आया कि क्यों न मैं इस कबूतर का कत्ल कर दूँ तो चाय के साथ कुछ नाश्ते का इंतज़ाम भी हो जाए। मैं उसे बड़ी आसानी से पकड़ सकता था। हालांकि यह सिर्फ एक खयाल ही था, और किसी दूसरे खयाल से जुड़ा हुआ था। आप निःसंकोच और बिला शक मुझे एक अच्छा और दयालु आदमी समझ सकते हैं क्योंकि संयोग की बात है कि कबूतर के बारे में यह विचार भी मुझे एक लड़की दोस्त से ही याद आया। हुआ यूँ कि लड़की किराये पर रहने के लिए एक फ्लैट देखने गयी। सारे कमरों और बालकनी का मुआयना करने के बाद उसके मुंह से निकला "वाव ! यहाँ कबूतर भी आते हैं !" जिस दोस्त ने लड़की को कमरा दिखाया था, वह लड़की के पक्षी प्रेम की गहराई की थाह लगा पाता, इससे पहले लड़की के मुंह से निकल पड़ा "मैं कबूतर रोस्टेड भी बना सकती हूँ और ग्रेवी वाला भी।"

खिड़की खोलने के बहुत देर बाद तक भी कबूतर मनहूस शक्ल बनाए उसकी ग्रिल पर बैठा रहा। किसी कबूतर की मनहूस सूरत की कल्पना आप अपने हिसाब से कर सकते हैं। मैं इस उम्मीद से चाय बनाने में मशगूल रहा कि थोड़ी खटर-पटर के बाद यह बाहर निकल भागेगा और दुबारा इधर का रुख करने के लिए हज़ार बार सोचेगा। मैं ग़लत था क्योंकि मेरे कई बार किचन में आने जाने के बावजूद उस दिन वह देर रात तक वहीं बैठा रहा और टुकुर-टुकुर न जाने क्या देखता और सोचता रहा। मुझे भी कोई ग़रज़ नहीं थी कि उसे सही रास्ता दिखाने या फिर खिड़की से भगाने के लिए अपनी कुछ कैलोरी फालतू खर्च करता। शाम की चाय बनाते हुये भी मैंने पाया कि वह उसी जगह पर बैठा है। मोबाइल के स्क्रीन पर नज़रें गड़ाए एकाध बार मैंने उसकी तरफ लापरवाही से नज़र डाली। चाय कप में छानते हुये मुझे लगा कबूतर बोल पड़ेगा "एक ढक्कन चाय मुझे भी मिल सकती है क्या ? कम चीनी और कड़क चायपत्ती वाली ! बहुत देर से एक ही जगह पर बैठा हूँ।" मुझे पूरा यकीन था कि उसने अगर ऐसा कुछ कहा तो मैं ग़ुस्से से आगबबूला हो जाऊंगा और उबलती हुई चाय उसके ऊपर फेंक दूंगा। मैं जानता हूँ कि यह भी बहुत ही हिंसक खयाल है, लेकिन साथ में आपको यह भी मानना पड़ेगा कि इससे ज़्यादा हिंसक खयाल कबूतर को मार कर खा जाने वाला, मेरे मन में पहले आ चुका था, जिसे मैंने त्याग दिया था।

कई दिनों बाद जब मैं अपने गाँव से लौटा तो किचन का दरवाजा खोलते ही मैंने पाया कि कबूतर की ढेर सारी सूखी हुई टट्टी फर्श पर बिखरी पड़ी है। मेरे आने से एक हलचल सी हुई और रोशनदान से थोड़ी और ताज़ी टट्टी फर्श पर बिखर गयी। कुछ दिनों पहले उस रोशनदान में किचन की गंध को बाहर निकालने के लिए मैंने एक पंखा लगवाया था। पंखा जबसे लगा था तबसे उसके चलने का संयोग नहीं बना था। ऊपर चढ़कर गौर से देखा तो बाकायदा एक घोंसला बना हुआ था, दो छोटे बच्चे सो रहे थे और वही कबूतरी एक कोने में सहम कर बैठी हुई थी।

वह बेहूदा कबूतर मेरे आने की आहट से उड़कर सामने के दूसरे छज्जे पर जा बैठा था। इस बार कबूतर को देखने के बावजूद मुझे कबूतरी पर बहुत गुस्सा आया। इतना ग़ुस्सा कि मेरा हाथ पंखे की बटन पर चला गया। बस एक बार बटन दबाने की देर थी कि तिनकों और फूस से बना हुआ वह घोसला बच्चों समेत किसी भयानक बवंडर की भेंट चढ़ जाता। मैंने आपको पहले भी बताया कि मैं एक अच्छा और रहमदिल आदमी हूँ इसलिए कबूतरी के बच्चों के मासूम चेहरों का खयाल करके मैंने हाथ वापस खींच लिया। कबूतर और कबूतरी पर मेरा ग़ुस्सा वैसा ही था। कबूतर का गुनाह यह था कि उसने बहला-फुसला कर एक मासूम कबूतरी की ज़िंदगी बरबाद कर दी थी। कबूतरी पर ग़ुस्सा इसलिए आ रहा था कि उसने इस बेहूदा कबूतर को ही क्यों चुना ? थोड़ा ग़ुस्सा उनके बच्चों पर भी था क्योंकि उनकी वजह से न जाने कितने दिनों तक किचन का यह पंखा ग़लती से भी चलाने से बचना होगा। मैंने उस पंखे की बटन को लाल टेप से ढँक दिया।

एक दिन की बात है। इस बात से कोई फरक नहीं पड़ता कि वह सप्ताह का कौन सा दिन था। मैं अपनी कुर्सी पर बैठा और मेज पर सिर झुकाये कोई किताब पढ़ रहा था। मेरा मेज औसतन छोटा है, जिसपर एक कंप्यूटर, दो किताबें, एक मोबाइल और एक टेबल लैंप आ जाने के बाद एक इंच भी फालतू जगह नहीं बचती। एक पानी की बोतल और एक पेपर वेट के नीचे दबे कुछ कागजों के बाद तो आप चाय का कप भी ढंग से टिका नहीं सकते। ऐसे में मेरा क़लमदान अक्सर ठीक बगल वाली खिड़की पर रखा होता। एक पुराना गिटार, असली, लेकिन शोपीस के रूप में, खिड़की से सटाकर रखा हुआ था, जिसका ऊपरी हिस्सा कलमदान में जाकर लगता था। वास्तु के हिसाब से यह खिड़की वही जगह थी जहां से वह मनहूस ऊँघता हुआ कबूतर सामने के छज्जे पर बैठा दिखता रहता। कभी उसकी दायीं तो कभी बाईं आँख बंद होती। मैं उसे सुस्त या आलसी भी नहीं कहना चाहता क्योंकि इससे मेरी जरूरत के दो शब्दों के दुरुपयोग के अलावा और कोई फायदा नहीं होने वाला। अब जबकि चिट्ठियाँ पहुंचाने जैसा अवैतनिक और एकमात्र काम भी कबूतरों से छिन चुका है, तो ऐसा कौन सा पाठ्यक्रम शेष बचा है, जिसके लिए वे बहुत सजग और चौकन्ने दिखें। यहाँ अगर आप ध्यान दें तो मैंने बातों बातों में उस कबूतर के हक की बात भी कह दी। इससे आपको यह भी पता चल सकेगा कि मनुष्येतर जीव-जंतुओं के प्रति मेरे सामाजिक सरोकार और प्रतिबद्धताएं शून्य नहीं हैं और निगेटिव तो कतई नहीं। मेरी नज़र अक्सर और अनायास उस सुस्त कबूतर की तरफ चली जाती।

मेरी थोड़ी देर की अनुपस्थित में कबूतर सरक कर खिड़की पर आया और गिटार के तार पर बैठ गया। क्षण भर में मैंने यह तय कर लिया कि मैं ज़िंदगी में कुछ कर पाऊँगा या नहीं, उस कबूतर से दोस्ती तो कतई नहीं करूंगा। मेरी आहट पर कबूतर के पैरों की हड़बड़ाहट से गिटार के तारों में किसी कॉर्ड की बेसुरी सी धुन उभरी। फोन पर बातें करते हुये मैं वापस अपने स्टडी रूम में पहुंचा तो कबूतर बिना किसी डर के तारों पर बैठा हुआ था। मेरे पास दो रास्ते थे। कबूतर को गिटार के तार पर बैठे हुये अद्भुत दृश्य को कैमरे में कैद कर लेता और लाइक, कमेंट्स या एकाध दर्जन इमोजी के लालच में फेसबुक पर डाल देता। दूसरा रास्ता था कि मैं अपना फोन खींच कर कबूतर को के सिर पर दे मारता, क्योंकि उसने अतिरिक्त अपनापे और अत्यंत आत्मविश्वास के साथ अपने शरीर को एक बार ऐंठ कर झकझोरा और गिटार के तार पर टट्टी कर दी। खुद पर काबू पाते हुये मैंने तीसरा रास्ता चुना और फोन के दूसरे छोर पर उपस्थित व्यक्ति को बहुत विस्तार से बताया कि मैं एक कबूतर से कितनी नफरत कर सकता हूँ। मैं प्राइमरी की सारी हिन्दी किताबों में 'क से कबूतर' की जगह 'क से कुछ भी' लिखवाने की ज़िद पर अड़ा रहा, जब वह व्यक्ति बहुत गंभीरता से कबूतरों के प्यारे और सुंदर होने की दलीलें दे रहा था। मैंने कहना जारी रखा कि यह कितनी खराब बात होगी कि भाषा की दहलीज़ पर अपने खुरदुरे पंख फड़फड़ाता बेकार सा एक पक्षी ज्ञान की पूरी प्रक्रिया को

बाधित किए हुआ बैठा है और किताब के पहले ही पृष्ठ पर मजे से टट्टी कर रहा है।

इस दौरान कबूतर उसी बेफिक्री से गिटार के तार पर बैठा रहा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। यह मेरे बर्दाश्त के बाहर था और मैं थोड़ी दूर से ही कोई ऐसी चीज़ ढूंढ रहा था जिसे कबूतर पर फेंक कर उसका कुछ नुकसान कर सकूँ। बाल खुजलाने के क्रम में मुझे महसूस हुआ कि मेरे कान पर एक लाल कलम टिकी हुई है, जिससे कुछ देर पहले मैंने इतिहास का कोई महत्वपूर्ण तथ्य 'अंडरलाइन' किया था। मैंने अपनी नफरत को छुपाते हुये बहुत चालाकी से कलम को दो उँगलियों के बीच बिलकुल मिसाइल की तरह साधा और झटके से कबूतर की तरफ उछाल दिया। कलम, कबूतर की पीठ पर जाकर लगी और लुढ़क कर खिड़की को पार करते हुये निचली खिड़की के छज्जे पर जा अटकी। कबूतर हड़बड़ाकर गिरते-सम्हलते खिड़की से बाहर भागा और सामने वाले छज्जे पर जाकर बैठ गया। कबूतर को अपने इस अपमान की कोई खास वजह नहीं समझ में नहीं आ रही थी और मुझे यह नहीं समझ आ रहा था कि ऐसी अड़बड़ जगह पर जाकर गिरी कलम को वापस कैसे पाया जा सकता था।

उस दिन कबूतर घंटों छज्जे पर बैठने के बाद उड़ गया। उड़ने की उसकी दो कोशिशों से मुझे महसूस हुआ कि उसको थोड़ी बहुत चोट ज़रूर लगी है। मुझे वैसे तो खुश होना चाहिए था, लेकिन क्यों नहीं हुआ, इस बात की पड़ताल करना भी मैंने गैरज़रूरी समझा। बहुत दिनों तक दुबारा वह कबूतर नज़र नहीं आया। इधर कबूतरी के दोनों बच्चे बड़े हो रहे थे। उनकी चीं-चीं कुछ ही दिनों में गुटरगूं में तब्दील होने लगी थी। उनके मजबूत होते जाते पंखों का पता उनकी फड़फड़ाहट और किचन में लगातार झरते तिनकों से चलता था। इस बीच मेरा ध्यान कबूतरी पर गया, जो गुमसुम रहने लगी थी। उसकी उदासी, अपनी आँखों के सामने बच्चों को बड़े होते देखनी की खुशी से थोड़ी ज़्यादा भारी थी। अब मुझे थोड़ी सी चिढ़ कबूतरी की उदासी से भी होने लगी। किचन की खिड़की से बिल्डिंग के बीच में अटकी लाल कलम अक्सर दिख जाती तो मुझे कबूतर की याद आ जाती। कबूतरी के बच्चे जिस दिन बड़े होकर उड़ चले, उसदिन मैंने बटन से टेप हटाकर पंखा चलाया और किचन से एक मटमैली खुशबू तेज़ बवंडर के साथ बाहर निकल गयी।

इस बात को काफी दिन हो गए। एक दिन मैं किचन में चाय बनाते हुये उस छज्जे को देख रहा था जहां कबूतर बैठा करता था। कई और कबूतर वहाँ आते जाते, उनकी बैठकें होतीं लेकिन वैसा सुस्त और बेहूदा कबूतर उनमें से कोई नहीं था। ये अजीब बात है कि मुझे उसके न होने से भी एक चिढ़ होने लगी थी। मैंने ऊब में कोई निरर्थक सा शब्द बुदबुदाते हुये अपने आप को समेटा ही था कि मेरी नज़र उस जगह पर पड़ी जहां लाल कलम अटकी होनी चाहिए थी, लेकिन वह वहाँ नहीं थी। हवा या बारिश से कलम के नीचे गिर कर खो जाने का अनुमान लगाते हुये चाय लेकर मैं वापस अपने स्टडी टेबल पर पहुंचा। बचे हुये उदास दिन के शेष कार्यक्रमों को उँगलियों पर गिनते हुये मैंने डायरी पर एक निगाह डाली और चाय सुड़कने लगा। कुछ देर बाद मेरी एक लापरवाह नज़र खिड़की पर गयी तो मैंने पाया कि वही लाल कलम खिड़की पर रखी हुई है और वही कबूतर सामने के छज्जे पर बैठा मुझे देख रहा है। उसने अपने अपमान के बावजूद मुझे कलम वापस करने की ज़हमत क्यों उठाई ! मेरे कुछ समझने के पहले वह फिर वापस न आने के लिए उड़ान भरचुका था। मैंने कलम उठाकर डायरी के आखिरी पन्ने पर ज़ोर से घसीटा तो लाल कलम से लाल लहू की कुछ बूंदें बह निकलीं।

कबूतर-कबूतरी के एक नये जोड़े ने फिर उसी जगह दो बच्चे दिये। पंखे वाली बटन पर टेप चिपकाने के बाद कबूतरी के घोसले में एक मुट्ठी अनाज डालते हुये मुझे महसूस हुआ कि पिछले दिनों गुस्से में कबूतर को क़त्ल कर देने का खयाल वाकई हिंसक था। डायरी के आखिरी पन्ने को मैंने गौर से देखा। वहाँ लिखा था 'क से कबूतर।' रचना

# साहित्य में पानी

मुरली मनोहर सिंह

प्रकृति और साहित्य का रिश्ता बहुत गहरा है। या यूं कहें कि साहित्य की मूल प्रेरणा शक्ति प्रकृति ही है और प्रकृति की जीवन संजीदगी व ताजगी जल से है। इस प्रकार जल से सीधा और बहुत गहरा रिश्ता साहित्य का बनता है। तभी तो साहित्य और पानी के सहज स्वभाव को भांपते हुए सुमित्रानंदन पंत ने कहा है-

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर नैनो से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥

कविकुलगुरु महाकवि रवींद्रनाथ टैगोर ने भी मानव शक्ति की अदम्य जिजीविषा को व्यक्त करने के लिए किसी और प्रतीक को नहीं बल्कि 'पानी' को ही चुना जीवन की रवानी को प्रकट करने वाली विश्व प्रसिद्ध 'निझैर स्वप्नो भोंगो' कविता लिखी। साहित्य में पानी बहुअर्थी शब्द है इसके महत्व को प्रतिबिंबित करता यह दोहा स्मरणीय है-

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै, मोती मानस चून॥

निश्चित रूप से बिना पानी के सब कुछ सूना हो जाता है। किस्से, कहानियां किद्वानतियाँ, गल्प आदि भी साहित्य का हिस्सा होते। पानी को लेकर भी लोक में तमाम किस्से मौजूद हैं। एक किस्सा यह भी है कि एक बार अकबर ने अपने दरबारियों से पूछा कि यदि बारह महीनों में से एक घटा दिया जाए तो कितना शेष बचेगा इस पर सभी दरबारियों ने कहा कि ग्यारह। लेकिन बीरबल ने बताया कि महाराज कुछ शेष नहीं बचेगा। दरबारी हैरान कि महाराज! यह कैसे? तब बीरबल ने बताया कि यदि बारह महीनों में से एक महीना सावन का निकाल दिया जाए तो कुछ शेष नहीं बचेगा अर्थात सूखा! हम सभी जानते हैं सावन अपनी वर्षा के लिए ही तो विख्यात है।

साहित्य में अभिधा और व्यंजना दोनों में ही पानी पर पर्याप्त मात्रा में लिखा और पढ़ा गया है। हिन्दी साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। शास्त्री नित्य गोपाल कटारे की कविता है -

जल ही जीवन है
जल से हुआ सृष्टि का उद्भव जल ही प्रलय घन है।
जल पीकर जीते सब प्राणी जल ही जीवन है॥

बादल अमृत सा जल लाता
अपने घर आंगन बरसाता
करते नहीं संग्रहण उसका
तब बह-बह कर प्रलय मचाता
त्राहि-त्राहि करता-फिरता कितना मूरख मन है।
जल पीकर जीते सब प्राणी, जल ही जीवन।

रामेश्वर कंबोज की की कविता है -

पानी की महिमा धरती पर, है जिसने पहचानी।
उससे बढ़कर और नहीं इस दुनिया में ज्ञानी॥
जिसमें ताकत उससे उसके आगे भरते हैं सब पानी।
पानी उतर गया है जिसका, उसकी खत्म कहानी॥
लगा नहीं जिसमें पानी उपज ना वह दे पाता।
फसल सूखी माटी में मिलती, नहीं अन्न से नाता॥

इसी प्रकार जीवन दर्शन की भी बात पानी के माध्यम से ही की गई है -

जीवन है बुलबुला मात्र बस, संत कबीर बतलाते।
इस दुनिया में सदा निभाओ, प्रेम-नेम के नाते॥
नैनों के पानी से बढ़कर और न कोई मोती।
बिना प्यार का पानी पाए धरती धीरज खोती॥

प्रसिद्ध बाल कवि श्री प्रसाद के शब्दों में-

जाने कब से पानी है।
कितनी बड़ी कहानी है॥
कहीं वह है, बर्फ कहीं
पानी ही क्या भाप नहीं
सब रूपों में पानी है
ऐसा कहती नानी है।

प्रेम शंकर शुक्ला ने पानी के स्वभाव को बहुत ही मासूम तरीके से बयान किया है-

पानी बहता है
चाहे कहीं भी हो पानी
बह बह रहा है।
मेरे शब्दों! तुम्हारे भीतर भी तो
वह रहा है स्वर जल
नहीं तो कहता कैसे होता प्रांजल।
पानी बहता है तभी तक पानी पानी रहता है।

किसानी संवेदना के सशक्त हस्ताक्षर प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल की जलभाव की अभिव्यक्ति देखिए -

अब आओ न पत्थर को निचोड़ कर निकाल लें
पानी
न अब मिलता है जल
न अब पूछती है प्यास
बस मोहन ही खड़ा है घर में नल
दमयंती के विरह में उदास
हाय रे यह हमारा अभाग्य
न अब मिलता है जल
न अब बुझती है प्यास
बस मौन खड़ा है धूप से भरा, भारी गरमागरम
स्वयं जलता और सब को जलाता, उदास दिन।
हाय रे हमारा अभाग्य॥
पानी पानी पानी, अमृतधारा सा पानी।
बिन पानी सब सूना-सूना, हर सुध का रस पानी।

आलोक धन्वा ने भी लिखा है-

पानी सिर्फ वही नहीं करता
जैसा उसे करने के लिए कहा जाता है
महज एक पौधा को सींचते हुए पानी
उसकी जरा सी जमीन के भीतर भी
किस तरह जाता है।
दुखी और टूटे हुए हृदय में
सिर्फ पानी की रात है
वही है आशा और वही है
दुनिया में फिर से लौट आने की अकेली राह।

नरेश सक्सेना तो और भी गहरे उतरते हैं-

बहते हुए पानी ने
पत्थरों पर निशान छोड़े हैं।
अजीब बात है, पत्थरों ने पानी पर
कोई निशान नहीं छोड़ा।

जाहिर है पानी की इसी खास खासियत के कारण ही तो कहा गया है-

पृथिव्या लीनि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्
मूढै पाषाणखेड़ेषु रत्न संज्ञा वीधियते।

(पृथ्वी के तीन ही रत्न हैं, जल, अन्न और सुभाषित। मूर्ख जन पत्थर के टुकड़ों को रत्न कहते हैं।)

पानी से इसी लगाव को भांपकर ही तो कालिदास का भी मन मचला था और 'आषाढ़षस्य प्रथम दिवसे' के बहाने अपनी प्रसिद्ध कृति मेघदूत की रचना उन्होंने की थी।

इस प्रकार देखते हैं कि अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों को सहज करने में साहित्य में पानी का विशिष्ट स्थान है। तभी तो अनुपम मिश्र ने कहा है-

आज भी खरे हैं तालाब।

या केदारनाथ सिंह ने यूं ही नहीं कहा होगा-

इस नदी से ठंडी हवा आती तो होगी।। स्व

**लघुकथा**

# एक और एक ग्यारह

**इन्दु बारौठ'चारण'**

आज सपना पूरा हो गया राधा का; साउथ केंजिगटन के इम्पिरियल कॉलेज में एडमिशन लेना ही तो सपना था उसका। खुशी के मारे चहक रही थी, खुशी तो आ गयी सूरज की रोशनी की भाँति परंतु चिंता के बादल अभी वहीं घूम रहे हैं। हॉस्टल का कमरा बहुत महँगा है और सब अलग-अलग लड़के लड़कियाँ हैं। घर से भी दूर। पिताजी तो इतना पैसा दे नहीं पायेंगे। इस कॉलेज में पढने के लिये कुछ तो करना ही पड़ेगा। एक साथ कई विचार मस्तिष्क में आने लगे कि पार्ट टाइम जॉब कर लूं। किसी को साथ रख लूं या हॉस्टल में न रहकर घर से आना-जाना कर लूं। समझ नहीं आ रहा था क्या करुँ। तभी माँ जो सदा ऐसी परेशानियों से हल निकालती है। कहते भी हैं ना कि माँ सहेली, एडवाइज़र, हर चीज का सोलुशन, सब कुछ होती हैं, की याद आई वैसे भी माँ सदा सर्फ का विज्ञापन देखती तो कहती सर्फ एक्सल है ना, वैसे ही कोई भी परेशानी आये डरना नहीं क्यों कि तुम्हारे पास माँ है ना। राधा ने तुरंत माँ के पास जाकर बात की माँ ने राधा को कहा कि अपने साथ किसी लड़की को शेयरिंग में रख ले जिससे पैसे आधे हो जाएंगे और कार्य करने की शक्ति दुगुनी हो जायेगी। अगर कोई प्रोजेक्ट भी मिलता है तो कम समय में मिल कर जल्दी पूरा भी कर सकती हो। हमेशा कम्पनी मिलती रहेगी। कोई होना भी चाहिये ना खुशी गम बांटने के लिये। बस फिर क्या था तुरंत ही हॉस्टल, कैंपस, कैंटीन सब जगह बोल दिया और आश्चर्य कि दो तीन दिन में ही राधा को एक यूरोपियन लड़की वसलका मिल गई। देरी ना करते हुये राधा और वसलका शिफ्ट हो गये। राधा गुनगुना रही थी- एक से भले दो....वसलका भी कॉफा खुश दिख रही थी, अपना सामान कमरे में लगाते हुये। सब कुछ होने के बाद राधा हॉस्टल की खिड़की के पास चाय पीते पीते सोच रही थी, ऐसे ही किसी ने नहीं कहा कि एक और एक ग्यारह होते हैं। उसका गूढ़ रहस्य आज समझ आ रहा था। स्व

# दर्दपुर : विस्थापन में औरतें

संगीता

क्षमा कौल उन महत्त्वपूर्ण कथाकारों में से हैं जिन्होंने राजनीतिक अतिवादिता से दूर रहते हुए, सामाजिक सरोकारों, मानवीय मूल्यों, नैतिकता ओर विमर्शवादी साहित्य का सृजन करके अपनी एक अलग पहचान बनाई है। 'पृथ्वी का जन्नत' कहे जाने वाले कश्मीर में जन्मी 'क्षमा कौल' के रचना संसार का केन्द्र कश्मीर है। साहित्य जगत में 'क्षमा कौल' का आविर्भाव ऐसे समय में होता है जब कश्मीरी हिन्दुओं को कश्मीर से निष्कासित किया जा रहा था व कश्मीर में धार्मिक उन्माद अपने पूर्ण चरण पर था तथा कश्मीर की राजनीति और समाज दोनों का ह्रास हो रहा था ओर कश्मीर का लोक-जीवन हाशिए पर पहुँच गया था। ऐसे समय पर कश्मीर के आम जन के दुख-दर्द का सजीवता के साथ किया गया वर्णन व समाज के साधारण जन तथा कश्मीरी समाज में हाशिए पर स्थित महिलाएँ और विस्थापन का दंश झेल रहे कश्मीरी हिन्दुओं के जीवन का विलक्षणता के साथ किया गया चित्रण उनकी विशिष्टता का प्रमुख आधार है।

हिन्दुस्तान में छद्म धर्मनिरपेक्षता और प्रगतिशीलता के नाम पर कश्मीरी हिन्दुओं और महिलाओं की समस्याओं को कभी अभिव्यक्ति नहीं दी गई। जब कभी इस मुद्दे पर चर्चा हुई तो इसे प्रतिस्पर्धी धर्मनिरपेक्षता के नाम पर अप्रासंगिक बना दिया गया । कश्मीर केन्द्रित हिन्दी कथा साहित्यकारों में प्रमुख 'क्षमा कौल' के प्रसिद्धि का मूल आधार उनके द्वारा रचित उपन्यास 'दर्दपुर' (2004) है। दर्दपुर न केवल कश्मीरी हिन्दुओं को धर्मनिरपेक्षता के नाम पर छले जाने की सच्चाई को प्रकट करता है बल्कि समाज में रचे गए प्रगतिशीलता और धर्मनिरपेक्षता के छद्म की बखियाँ उधेड़ कर रख देता है। 'दर्दपुर' आतंक, अलगाववाद, हिंसा और धार्मिक उन्माद के कारण कश्मीर की संस्कृति और समाज के भयावह विखण्डन का चित्र प्रस्तुत करता है।

'दर्दपुर' उपन्यास की नायिका सुधा है जिसके अनुभवों को केन्द्र में रखकर इस रचना का सृजन किया गया है। नब्बे के दशक में कश्मीरी हिन्दुओं को कश्मीर से निष्कासित कर दिया गया या उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। कश्मीर से विस्थापन के दंश को जम्मू और कश्मीर के रिफ्यूजी कैम्पों ने ने उसे और प्रबल किया। विस्थापन की पीड़ा सहते हुए उन्हें पता चला की उनकी सुधी लेने वाला इस देश में कोई नहीं है । इस देश में छद्मवादी धर्मनिरेपक्षता की दिखावट का प्रचलन अपने पूर्ण चरण पर है । 'दर्दपुर' उपन्यास की नायिका सुधा कहती है- "वह सबसे कहेगी, देखो हिन्दू से ही हिन्दू को नहीं समझा जाता । देखो वह हिन्दू स्वयं मुसलमानों को बिगाड़ रहा है । हिन्दू में अच्छा बच्चा होने की बीमारी ने कैंसर की तरह घर कर लिया है। मुसलमानों में बिगड़ा बच्चा होने की बीमारी ने कैंसर का रूप ले लिया है। दोनों कैंसर लाइलाज होते चले जा रहे हैं और हमारे मुल्क को खा रहे हैं। हमें खा रहे हैं।"[1]

**"जब एक स्त्री पुरुष से मार खाती है तो वह स्त्री होती है जब उसका समुदाय ही दूसरे समुदाय से मार खाता है तो वह समुदाय हो जाती है पूरी-पूरी । उसे आज तक कभी तय करना नहीं आया साफ-साफ कि वस्तुतः होना क्या चाहिए?"**

कश्मीर को केन्द्र में रखकर बहुत साहित्य लिखा गया है । लेकिन कश्मीर की बहुसंख्यक आबादी के धार्मिक उन्माद के कारण कश्मीर से निष्कासित हिन्दू महिला ने उसे किस तरह देखा और महसूस किया है। इस मायने में यह एकलौता उपन्यास है जिसे पढ़ते हुए हम विस्थापन के दंश की संवेदना को महसूस कर रहे होते हैं। 'दर्दपुर' उपन्यास की नायिका 'सुधा' के इस प्रश्न का जवाब देने का सामर्थ्य किसी में भी नहीं है कि जब उन्हें अपने ही देश में अपनी मातृभूमि जन्मस्थली से रातों-रात खदेड़ कर बाहर कर दिया गया आखिर उनका जुर्म क्या था? बस यही की वे हिन्दू थे और बहुसंख्यक आबादी की निगाह में काफिर थे। जिन्होंने धर्मांतरण कर लिया वे बच गए जिन्होंने इसे अस्वीकार किया उनके लिए फतवे जारी हुए 'ऐ काफिरों, ऐ जालिमों कश्मीर हमारा छोड़ दो और इसके साथ यह फरमान भी कि हमें पाकिस्तान समर्थित आजाद कश्मीर चाहिए पंडित महिलाओं के साथ न कि पंडित पुरुषों के साथ' विश्व के सबसे बड़े धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक देश में रात-भर मस्जिदों के लाउडस्पीकरों से धार्मिक उन्माद और हिंसा को बढ़ाया गया और हमारी सरकारें सोती रहीं। कश्मीर घाटी से कश्मीरी हिन्दुओं का जबरन निष्कासन भारत ही नहीं अपितु पूर्ण विश्व का सबसे बड़ा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नरसंहार है जिसके तहत एक खास वर्ग को समूल नष्ट करने का प्रयास किया गया।

आत्मकथात्मक साहित्य का सदा से बहुत महत्त्व रहा है। यह स्वानुभूति के रूप में तो कभी 'भोगे हुए यथार्थ' के रूप में साहित्य में प्रमुख स्थान पाता रहा है । 'दर्दपुर' उपन्यास की लेखिका और नायिका दोनों कश्मीर से निष्कासित हिन्दू हैं और विस्थापन के दंश को झेल रही है। अपनी जड़ों से कटने का दुख और उस जड़ को पुनः स्थापित करने की आस के मायने इनसे बेहतर कोई नहीं जान सकता है । मानवीयता के इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदी कश्मीर से कश्मीरी हिन्दुओं के जबरन निष्कासन पर समाज की चुप्पी और विश्व के सबसे बड़े धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक व्यवस्था के वाहकों के छद्मवादी रवैये का यथार्थ चित्र इस उपन्यास में देखने को मिल जाता है । क्षमा कौल के इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को देखते हुए 'सत्यकेतु सांकृत' अपने लेख में कहते हैं कि- "क्षमा कौल का उपन्यास 'दर्दपुर' भोगा हुआ यथार्थ और औपन्यासिक विजन के मिलन का अद्भुत नमूना है। यहाँ सोने में सुगंध वाली कहावत चरितार्थ हो उठी है। यह कश्मीरी जीवन और कश्मीर से कश्मीरी पंडितों के करुण विस्थापन को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने वाला बेजोड़ उपन्यास है । क्षमा कौल इस उपन्यास में एक निर्भीक लेखिका के रूप में सामने आई है।"[2]

क्षमा कौल ने हिन्दी कथा-लेखन की परिपाटी को बदल कर अपनी रचनाओं में उन लोगों को प्रमुखता देती है जो अपने ही देश में विस्थापन की पीड़ा के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं तथा वे महिलाएँ जिन्हें कश्मीर में उपेक्षा, प्रताड़ना, शोषण और दहशतगर्दो की दहशतगर्दी का शिकार होना पड़ता है । 'दर्दपुर' में महिलाओं की स्थिति पर पूरी समग्रता से वर्णन किया गया है । 'दर्दपुर' उपन्यास की मुख्य पात्र सुधा का अपने होने वाले पति का वह सवाल कि इससे पहले उसने कभी प्रेम किया या नहीं? के जवाब में एक ईमानदार स्वीकारोक्ति पर उसके मंगतेर की मनोदशा व भावभंगिमा का जो चित्रण किया गया है वह सम्पूर्ण स्त्री जाति की गरिमा बोध पर पुरुषों के द्वारा मानसिक व शारीरिक कुठाराघात है । यह श्रेष्ठता का दम्भ भरने वाले पुरुषों में सामान्य तौर पर पाया जाता है वही स्त्रियों के लिए अस्वीकार क्यों कर दिया जाता है ।

'दर्दपुर' उपन्यास में स्त्री-विमर्श का अपना एक विस्तृत ढाँचा है । जहाँ दर्द, पीड़ा, कई पीढ़ियों के किस्से जहाँ स्त्रियों के हिस्से आए दुखों को मांजा गया है और यह एक वैश्विक दुख बन जाता है । क्योंकि इसे आप कश्मीरी पंडितों के दुख तक सीमित नहीं रख सकते बल्कि इसकी जड़ में दुनिया की वह तमाम स्त्रियाँ आ जाती है जिन्हें समय-समय पर दबाया, कुचल, जलाया और बलात्कार किया जाता है ।

"लकड़ी से नहीं पूछा जाता है कि वह किसकी है? या क्या उसे जलाया जाना चाहिए या नहीं... या क्या वह जलाया जाना पसंद करेगी या नहीं । उसे ज्यों ही मौका मिले लूटा जाता है । जलाया जाता है । गर्माया जाता है खुद को ठीक स्त्रियों की तरह ।"[3]

'दर्दपुर' में सुमोना नाम की पात्र है । जो वर्तमान समय में तथाकथित आधुनिक महिलाओं की तरह समाज सेवा के साथ-साथ छद्मवादी धर्मनिरपेक्षता का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखती है । यह धर्मनिरपेक्षता पर वही कहती है वही बोलती है जिससे उसके निजी स्वार्थों की पूर्ति हो सके । हमारे देश में बहुत से स्वयं सेवी संगठन कुकुरमुत्तों की भाँति उग आए है जिनका मकसद निजी स्वार्थों की पूर्ति करना है। ऐसे लोगों की संवेदनाएँ प्रायः मृत होती है क्योंकि इन्हें संवेदना के माध्यम से अपने परिप्रेक्ष्य को बढ़ाना होता है । 'सुमोना' भी ऐसी ही पात्र है जिसे खुद को धर्मनिरपेक्ष दिखना है तथा कश्मीरी हिन्दुओं एवं महिलाओं की समस्या पर बात भी करनी है। 'दर्दपुर' में स्त्रियों की अस्मिता अस्तित्व की आवाज को विभिन्न प्रसंगों एवं पात्रों के माध्यम से हमारे समक्ष उकेरा गया है।

"जब एक स्त्री पुरुष से मार खाती है तो वह स्त्री होती है जब उसका समुदाय ही दूसरे समुदाय से मार खाता है तो वह समुदाय हो जाती है पूरी-पूरी । उसे आज तक कभी तय करना नहीं आया साफ-साफ कि वस्तुतः होना क्या चाहिए?"[4]

'दर्दपुर' उपन्यास की नायिका 'सुधा' की संवेदनाओं के माध्यम से कश्मीरी हिन्दुओं और महिलाओं की पीड़ा को हमारे समक्ष रखा गया है । सुधा कश्मीर निर्वासित एक हिन्दू है किन्तु जब वह एक विशेष योजना से कश्मीर जाती है तब वह वहाँ कि मुस्लिम स्त्रियों के दुख-दर्द, पीड़ा और विवशता को देखकर समझने की कोशिश करती है । स्त्री के दुख को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से न देखकर स्त्री मात्र के दुख की पीड़ा को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है । यहाँ वह भेद मिट जाता है कि वह किस जाति अथवा समुदाय से है ।

'दर्दपुर' में अतीत के माध्यम से सुधा उन सभी घटनाओं को याद करती है जो कभी घटित हुई थी और उसके स्मृति पटल पर ऐसी कई चीजें उभरती हैं जो कश्मीर में उसका बचपन, उसका यौनावस्था में कदम रखना, धार्मिक उन्माद और कश्मीर से विस्थापन सभी बाते उसे बेचैन करती है । क्षमा कौल ने बड़ी बारीकी और चतुराई से कश्मीरी हिन्दुओं के विस्थापन के दंश और महिलाओं की स्थिति को सुधा के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।

"गुरप्रीत, यह ताऊ का घर आया न... एक पूरा जीवन ही आया मेरे सामने। कितनी बातें, कितनी गहन-गूढ़ बाते, कितनी उलझी हुई गुत्थियाँ कितनी एक-दूसरे पर चढ़ी भीड़ हुई गहन, गंभीर जटिल स्मृतियाँ कितनों का तो शिकार हो जाता है आदमी।"[5]

सन् 1989 के बाद कश्मीर के सामाजिक जीवन में नाटकीय ढंग से पैदा हुई विस्फोटक स्थितियाँ, धार्मिक उन्माद, अन्तर्विरोध, द्वन्द, उपापोह की रस्साकसी, हिंसा और बर्बरता, संदेह और संशय प्रेम और घृणा मूल निवासी कश्मीरी हिन्दुओं की सामूहिक जलावतनी, पीछे छूटे उनके उदास घर मकान खेत खलिहान, गाँव घर और उनका साहचर्य, विराट शून्य सह अस्तित्व की स्मृतियाँ और विस्थापित कैम्पों की भयावह स्थितियाँ, उनकी घर वापसी की ललक, दरिन्दों द्वारा महिलाओं के साथ दरिंदगी, अस्तित्व, अस्मिता को बचाए रहने का संकट इस उपन्यास का विस्मृत वितान बुनती है।

**निष्कर्ष -**

साहित्य का उद्देश्य मनुष्य के सामने पसरे घने अन्धेरों और कुहासों से लड़ने और श्रेष्ठ मूल्यों को बचाने का है। जिससे जीवन निरन्तर जीने योग्य बना रहे। 'दर्दपुर' उपन्यास कश्मीर से निष्कासित कश्मीरी हिन्दुओं की पीड़ा, कश्मीर की विध्वंस स्थिति, कश्मीरी मानव मूल्यों और सांस्कृतिक विरासत के यथार्थबोध को भारतीय जनमानस तक पहुँचाता है। 'दर्दपुर' में महिलाओं की स्थिति का यथार्थ चित्र अंकन किया गया है। मानवीय अस्मिता और अस्तित्व की हितैषी क्षमा कौल ने कश्मीरी हिन्दुओं के विस्थापन के लिए व्यवस्था और महिलाओं की दयनीय स्थिति के लिए समाज को कठघरे में खड़ा किया है। क्षमा कौल ने 'दर्दपुर' उपन्यास के माध्यम से कश्मीर से विस्थापित हिन्दुओं और महिलाओं की पीड़ा का बड़ी गहनता व सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है। सामान्य जनता के दुख-दर्द, विस्थापन का दंश, आतंक, अलगाववाद, उन्माद और हिंसा एवं कश्मीरी समाज में आए नकारात्मक पहलुओं का सटीक वर्णन करती दिखाई देती है। यह कहना उचित होगा की महिलाओं और कश्मीरी विस्थापितों का दर्द इस उपन्यास में साकार हो उठा है।

**संदर्भ सूची:**


1. कौल, क्षमा. (2004). दर्दपुर. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 18.
2. सत्यकेतु सांकृत, दर्द का दास्ता : दर्दपुर, समीक्षा (पत्रिका), अंक-4, जनवरी-मार्च 2008.
3. कौल, क्षमा. (2004). दर्दपुर. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 45.
4. वही, पृ. 52.
5. वही, पृ. 86. स्व

## दिनेश सागर की कवितायें

### हम लौटेंगे एक दिन

हम लौटेंगे एक दिन
जैसे लौटता है हड्डियों में छिपा ज्वर
जैसे लौटते हैं मज़दूर अपने घरों की ओर
लौटती है चिड़िया, अपने घौंसले में शाम होने से पहले,

हम लौटेंगे एक दिन
जैसे बाज़ार से घर लौट आते हैं पिताजी शाम तक
जैसे लौटती है हरेक शाम ढ़लने से पहले आँगन में धूप
लौटते हैं घर बच्चे, शाम होने से पहले स्कूल से पढ़कर,

हम लौटेंगे एक दिन
जैसे लौटते हैं अपनी राह पर भटके हुए मुसाफ़िर
जैसे लौटती है अंतिम स्टेशन से लौह पथगामिनी
लौटते हैं हर साल सभी मौसम फिर से,

हम लौटेंगे एक दिन
लौटेंगे स्वप्नलोक से यथार्थ के धरातल पर
वर्षों बिताये शहरों से अपने-अपने गाँवों की ओर
हम लौटेंगे जरूर एक दिन ...।

### कौन जानता है कि

कौन जानता है कि
जिससे दिन भर खूब बातें की
न जाने किस समय उसे अलविदा कह जाऊँगा।

कौन जानता है कि
कल तक जो चिड़िया बैठती थी घर की मुंडेर पर
अपने नन्हे बच्चों को अपनी अंक में छुपाये हुए
कोई बिल्ली आयेगी और दबोच ले जायेगी
अपने क्रूर हत्यारे पंजों में।

कौन जानता है कि
अनजान सड़क पर चलती हुई लड़की को
कोई क़ैद कर ले जायेगा अपनी गिरफ़्त में
और लोग चुपचाप खड़े देखते रहेंगे एक दूसरे का मुँह।

कौन जानता है कि
समय से बाहर इसी समय में
हम इतने स्वार्थी और आत्ममुग्ध हो जाएंगे कि
पड़ोसी के दिवंगत होने की भी ख़बर नहीं मिलेगी
और हम चाँद, मंगल पर रहने की सोच रहे हैं।

कौन जानता है कि
कल तक जो घर आया करता था डाकिया
अब शायद दोबारा कभी नहीं आएगा
न आयेगी छोटे-छोटे पैकेटों में बंद कोई खुशियाँ।

कौन जानता है कि
जिनके लिए तमाम दरवाज़े
बंद कर दिये गए हों एक षड़यंत्र के तहत
तब भी कुछ खिड़कियाँ खुली रह ही जाती हैं
एक अंतिम उम्मीद की तरह।

कौन जानता है कि
हम भी बीत जाएंगे एक दिन उसी मानिंद
जैसे एक समय बाद बीत जाती है ठंड
जैसे बीत जाता है समय
और हमें पता भी नहीं चलता।

## मैंने तमाम आवाजें दीं

मैंने तमाम आवाजें दीं
किसी ने कुछ नहीं कहा
आँगन में मुरझाई हुई तुलसी ने
मुंडेर पर नीरव एकालाप करती चिड़िया ने
पेड़ की किसी शाख पर
फ़ल कुतरती गिलहरी ने
पिंजरे में कैद तोते और न बाँक दे रहे मुर्गे ने
ओसारे में खूँट पर बंधे हुए दुधमुंहे बछड़े ने
उगते हुए सूरज और न अस्त होते रवि ने
ज्येष्ठमास की चिलचिलाती धूप और
न रात्रि की शीतल चाँदनी ने
नदियों ने और न चुपचाप बह रहे झरनों ने
दूधवाले अखबार वाले और न डाकिये ने
बाजारों में कानफ़ोड आवाजों की भीड़ ने
रोज आँगन बुहारने आते सफ़ाई वाले ने
ताजा सब्जी घर पहुँचाने वाले किसान ने
नुक्कड की चाय पान और समोसे वाले ने
फ़ुटपाथ पर छाते के नीचे
रोजी चलाने वाले मोची ने
आसमान छूती बहुमंजिला इमारत का
निर्माण करते प्रवासी मजदूर ने
स्कूल कॉलेज यूनिवर्सिटी के किसी चौकीदार ने
रिक्से-टेक्सी और बस ट्रेन आदि के
अचानक थमे हुए पहियों ने
मंदिर मस्ज़िद गिरिजाघर में
प्रार्थना कर रहे अनुयायियों ने
मैंने तमाम आवाजें दीं
किसी ने कुछ नहीं कहा
चुप्पियों और भयावह अंधेरों के बरक्स
रौशनी की उम्मीद में सब के सब
चेहरे पर उदासी लिए मौन खड़े थे हो निरुपाय।

## युद्ध और बुद्ध

युद्ध की राह में
हिंसा, बर्बरता और विनाश होता है
बुद्ध की राह में
प्रेम, सौहार्द और शांति मिलती है

युद्ध की राह चुनने वाले
चाहे जो भी हो जायें
मनुष्य तो कभी हो नहीं सकते

बुद्ध की राह चुनने वाले
चाहे जो भी हो जाये
अपना मनुष्यत्व कभी नहीं छोड़ते
युद्ध और बुद्ध
दोनों में से हम किसको चुनते हैं
यह अपनी निजता है कि
हम मनुष्य बनना चाहते हैं
या फिर बर्बर हिंसक विनाशक

अधिक वही ठहरता है
जो बुद्ध की राह पर चलता है
युद्ध का संकेत विनाश तक ले जाता है। स्व

## रमेश गोहे की कविता

# मेरी शर्ट का रंग

एक समय था जब मेरे पास नीली शर्ट नहीं थी,
और अब मेरे पास पीली शर्ट नहीं है,
वैसे तो मेरे पास अब हरी शर्ट भी नहीं है,
पर हरी शर्ट बहुत पहनी है मैंने,
वैसे तो सभी रंग पसंद हैं मुझे,
पर मेरे पास अब सिर्फ,
नीली, मटमैली और धूसर रंग की शर्ट ज्यादा हैं।
अरे सफेद शर्ट के बारे में तो बताना ही भूल गया मैं,
बचपन में शर्ट का मतलब ही होता था सफेद शर्ट,
और कोई दूसरे रंग की कल्पना भी नहीं करते थे हम लोग,
पिताजी का कुर्ता-पायजामा दोनों भी सफेद ही हुआ करते थे,
दादा और नाना की धोती भी सफ़ेद ही हुआ करती थी
और हाँ हम सभी के शर्ट भी सफेद होते थे,
कितना साथ दिया है इस सफेद रंग ने,
कोई भी इंटरव्यू आया कि सिलवा ली एक सफेद शर्ट,
इतना पहना है पर सफेदी का आकर्षण कभी खत्म नहीं होता।
हो भी कैसे, यही रंग तो जाएगा,
अंत तक साथ निभाएगा।
अंतिम यात्रा में सफेद कफ़न ही ओढ़ाया जायेगा।
ओहो कहां मौत के बारे सोचने लगा मैं,
अच्छा भला शर्ट की बात कर रहा था कि
मेरे पास अब किन रंगों की शर्ट हैं,
और कितने रंग पसंद हैं मुझे।
मिंत्रा पर कितनी रंग-बिरंगी,
इंद्रधनुषी शर्ट्स पसंद कर रखी हैं मैंने,
28,
जी हां कार्ट में लगभग 28 शर्ट पसंद कर रक्खी हैं मैंने मिंत्रा पर,
लेकिन मैं बताना चाहता हूँ कि मुझे,
इससे भी ज्यादा पसन्द आती हैं फ्रैंचक्राउन की शर्ट्स,
जो सबसे अलग और ज्यादा चमकदार होती हैं,
हाँ,
पर फ्रैंच क्राउन के कार्ट में एक भी शर्ट नहीं है मेरे पास,
वहां शर्ट की कीमत कभी भी दो हजार से कम नहीं होती,
बल्कि इसी रेंज से शुरू होती है कीमत,
और पहुंच जाती है लाखों रुपए पर।
सोचिये,
कोई लाख रुपए की शर्ट पहनता होगा,
तो कैसा दिखता होगा?
लाखों का कोट पहनता होगा तो?
नहीं नहीं कोट पर मत सोचिए,
अपना मुद्दा शर्ट है कोट नहीं।
तलाशिए किसी ऑनलाइन एप पर आप भी
'बाय वन-गेट वन फ्री' वाली शर्ट।
हाँ पर मैंने देखा है
कि एक अच्छी, महंगी और चमकदार शर्ट पहनने पर
उनके हंसने का उत्साह और बढ़ जाता है,
दांत और ज्यादा सुंदर लगने लगते हैं।
सिर और दाढ़ी की सफेदी पर लोगों का ध्यान,
थोड़ा कम जाता है,
नए लोग उनको अमीर समझते हैं,

हां किराने वाला दुकानदार,
नई शर्ट देखकर,
पिछले महीने की उधारी जरूर याद दिला देता है।
कहता है सर पिछला हिसाब कर देते तो अच्छा रहता,
और मन ही मन कहता है,
नई शर्ट पहनने के लिए पैसे हैं इनके पास,
और नमक तेल उधारी में चल रहा है।
कैसे कैसे लोग हैं,
घर में बोरा-टाट और बाहर टेरी-कॉट,
वैसे यह कहावत 100 साल पुरानी हो गई है ।
अब टेरीकॉट नहीं कॉटन वालों से जलते हैं लोग,
किसी भी शर्ट पर लिखा रहता है अब 100% कॉटन,
वही वाला कॉटन जिसके खेत विदर्भ में मिलते हैं,
झक्क सफेद दिखने लगते हैं खेत में जब,
कपास के फल फट कर खुल जाते हैं,
कपास आंख खोलकर बाहर झांकने लगता है।
और,
जब,
कपास बाहर झांकने लगता है,
तब,
किसान को रात-रात भर नींद नहीं आती।
उसे सताने लगता है किसी अनहोनी का भय
हर पल उसे लगता है कि,
काले-काले बादल घुमड़कर आ रहे हैं,
अब बस बरसने ही वाले हैं,
और उसके खेतों में बरस कर कपास को गिला कर देंगे।
काला कर देंगे उसका सारा सफेद कपास,
उसी क्षण उसे सताने लगता है,
कर्ज वापस नहीं कर पाने का खतरा।
वह अचानक से हड़बड़ा कर उठता है,
बाहर आकर आसमान में देखता है,
आसमान में खिले दिखते हैं चटक तारे,
तब वह आकर चैन की सांस लेता है,
और सोता है।
सबेरे अखबार में पढ़ता है,
कि रामराव के खेत में किसी ने लगा दी है आग,
उसके कपास के खेत जलकर खाक हो गए हैं,
उसे सताने लगता है एक अनजाना भय,
और उसका चेहरा धीरे-धीरे पड़ने लगता है काला।
अपने खेत के कपास जल जाने के भय का धुंआ,
धीरे-धीरे उसके चेहरे को कर देता है बदरंग।
ओहो कितनी लंबी है,
झक्क सफेद कॉटन के शर्ट की कहानी,
जी हाँ सफेद सोना उगाने वाले किसान,
भय के मारे काले पड़ जाते हैं,
तब जाकर निखरता है सफेद सोना और ज्यादा।
कितने किसान मर जाते हैं,
सफेद सोने की कीमत पाने से पहले ।

जी हाँ मैं बता रहा था कि,
एक समय था जब मेरे पास नीली शर्ट नहीं थी,
और अब मेरे पास पीली शर्ट नहीं है,
वैसे तो मेरे पास अब हरी शर्ट भी नहीं है,
पर हरी शर्ट बहुत पहनी है मैंने,
वैसे तो सभी रंग पसंद हैं मुझे,
पर मेरे पास अब सिर्फ,
नीली, मटमैली और धूसर रंग की शर्ट ज्यादा हैं।
सफ़ेद शर्ट पहनते ही याद आने लगती हैं,
मुझे विदर्भ के किसानों की मौतें,
और मैं थोड़ा गमगीन होने लगता हूँ सफ़ेद शर्ट पहनकर,
वैसे तो सारे कपड़े कपास से ही बनते हैं।
रंग कोई भी हो,
कपास तो किसान का ही होता है। स्व

## हरिकेश गौतम की कविता

# क्या गुनाह था मेरा

प्रेम में संलिप्त युगल से
होकर गुजरती हवा ने
मानो,
साँझ और सूरज को
ठहरने के लिए
कह दिया हो
प्रेम के प्रभाव से
धरती की बयार
अब शीतल होने लगी थी।

प्रेमपाश में बैठा यह युगल
संसार की झंझटों से मुक्त
प्रेम की पराकाष्ठा में
आकंठ डूबा था
अचानक
शांत-सुनहरे बादल
गरजने लगे
शीतल हवा
गर्म आग उगलने लगी
प्रेममय वह जगह
ऐसा लगा कि
अपराध का अड्डा बन गई
जो अभी-अभी प्रेम में डूबी थी।

भीड़ ने चारों तरफ से घेर लिया
फुसफुसाहट में बात होने लगी
अब तो इसको
सब ने देख लिया है
अब इसको सजा मिलेगी
अब यह मारा जाएगा।

अचानक
एक आदमी भीड़ में प्रवेश करता है
फरमान जारी कर देता है.....
कुचल दो इस नीच को
कुचल दो इसके तन और मन को
ताकि
दुबारा हिम्मत न करे
अपनी जाति और औकात भूलने की
परंपरा और संस्कार तोड़ने की।

बेरहम भीड़
उनकी निर्मम हत्या कर देती है
लेकिन
प्रेम में कुचली गई शरीर भले ही
बेजान लाश में बदल गई हो
वह आज भी
उस भीड़ से पूछ रही है
आखिर
क्या गुनाह था मेरा?
यही न
मैंने प्रेम कर लिया था
तुम्हारी बनाई गई
जाति को दरकिनार कर
अन्तर्जातीय लड़की से
बताओ....
बताओ.... स्व

## पायल चतुर्वेदी की कविता

### उतरन

फेंकी वस्तु
अनमोल किसी के लिए
उतरन से सजते सपने किसी के।
छिटके दाने,
चींटी के त्योहार जैसे।
शेर का जूठन,
गीदड़ के काम आए तैसे।
बिडम्बना ! निस्पंद संसार।
तजे वस्त्र, खिलौने
लक्जरी हो किसी के लिए।
अट्टालिकाओं के झरोखों
से फेंक दी जाए
पा मासूम मुसकायें
फूटे हंसी का अंबार,
उन्मादित हो,
बुने सपने हजार। स्व

## अनिष कुमार सिंह की गज़ल

### ज़रा सब्र करो

छंट ही जाएगा ये गुबार ज़रा सब्र करो
लौट आएगी फिर बहार ज़रा सब्र करो।

फूल ही फूल होंगे अगले बरस शाखों पे
अब के कांटे हैं बेशुमार ज़रा सब्र करो।

ग़म के बादल हैं बरस कर के चले जाएंगे
चाँद तारे भी हैं उस पार ज़रा सब्र करो।

ज़िंदगी क्या है कुछ एक मौसमों सी करवट है
कुछ हैं कलियाँ तो हैं कुछ ख़ार ज़रा सब्र करो।

रूठ के जाना तो इक बात बताकर जाना
कैसे भूलोगे मेरा प्यार ज़रा सब्र करो।

नए मौसम में नई मंज़िलें नए साथी भी होंगे
पूरी होंगी सब ख्वाहिशें ज़रा सब्र करो। स्व

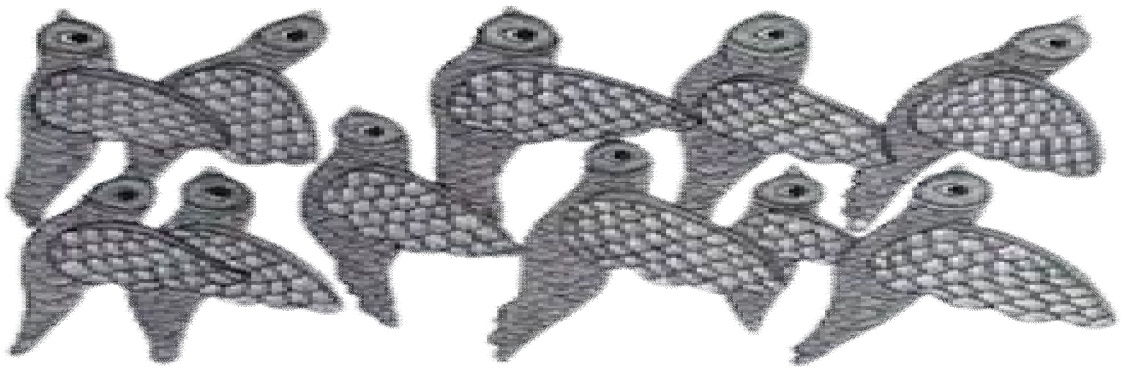

## जगदीश पंकज के नवगीत

### बाँचते ही रहे छद्म के ककहरे

बाँचते ही रहे छद्म के ककहरे
और लिखते रहे
झूठ की स्लेट पर

अक्षरों को मिलाकर
नया नाम दे
गढ़ रहे रात-दिन एक बारहखड़ी
व्यंजना ने किया
मुग्धता का चयन
लक्षणा को चिढाते हुए हर घड़ी

अंक सब, जब असंगत हुए नाट्य के
लात मारी गयी
कथ्य के पेट पर

पृष्ठ समकाल ने
जब सिसकते हुए
भूमिकाहीन होकर कहीं रख दिये
वे समय के पहरुए
कहाँ से प्रकट
हो गये हैं सजाने विगत को लिये

उक्तियाँ गूंजती हैं सभागार में
लक्ष्य है दृष्टि में
सिर्फ आखेट पर

बाद क्या है शिखर के
महाशून्य में
अन्ततः लौटना ही बचा पास है
यह विवशता रही
उच्चता की सदा
जो विजय का नहीं शुद्ध उल्लास है

राजपथ लिख रहा है महाशौर्य को
ध्यान को रख पदक की
किसी भेंट पर

### प्राण पर अनजान पहरे

शब्द चुप हैं
किन्तु हैं निहितार्थ गहरे

प्रश्न
मुँह बाये खड़े
उत्तर नहीं हैं
हवा में
अफवाह भी
बेपर नहीं हैं

सच बचाने
शाख, अपनी कहाँ ठहरे

जब किसी ने
निरी भावुकता
कही है
वह विकट

अनुभूतियों ने ही
सही है

जिन्हें सुनना है
हुए वे कान बहरे

आँसुओं की
वेदना
अन्तर्निहित है
डबडबाती आँख
शब्दों से
रहित है

हर सिसकते प्राण पर
अनजान पहरे

## जीवन होगा तो सब होगा

जीवन होगा
तो सब होगा
राग-रंग
व्रत, पूजा, अर्चन।

हाहाकार देख धरती पर
खिलते हुए
फूल मुरझाये
चीत्कारों की आवाजों में
कैसे कौन
चुटकुले गाये

सामूहिक
विपदा में कैसे
पाँव उठें
करने को नर्तन।

सहज सांत्वना भी सकुचाती
घर से बाहर
तक जाने में
अधरों का उल्लास छिप गया
पता नहीं किस
तहखाने में

गलियों से
मरघट तक फैला
शोकग्रस्त
साँसों का रोदन।

अँधियारे के बाद उजाले की
किरणें भी
मुस्काती हैं
सबकी साझा जिम्मेदारी
नयी सुबह
लेकर आती हैं

आज बचायें
घुटती सासें
कल करना
मिलकर रस-रंजन।

## हम से उठीं, उठेंगी हम से

हम से उठीं
उठेंगी हम से
घुटती चीखों की हुंकारें!

किसका क्या
आधार मानकर
खींची गई गरीबी रेखा
और अभावों को
बतलाया
अपने ही कर्मों का लेखा

बगुला भगतों की

बस्ती में
किसे मदद के लिए पुकारें!

किसके हित में
खडे असंगत
परंपराओं के विश्लेषण
बदले नहीं
न्याय के हित में
सतत चल रहे जो निर्देशन

प्रश्न पूछने पर
हिलती हैं
सदियों की ऊँची मीनारें!

धर्मशिलाएँ,
बुर्ज, कँगूरे
शोषण का सहगान कर रहे
श्रम से चूते हुए
पसीने का
कितना सम्मान कर रहे

कैसा चलन
मजूरी करने वाले
जीती बाजी हारें !

झोपड़ियाँ
कर रहीं सभाएं
खेत-कारखानों के श्रम की
साझे सम्मेलन
करते हैं
चर्चा, वंचित जन के दम की

बाँटा है
जन-जन को जिनसे
टूट रहीं अब वे दीवारें ! स्व

## ओम सुनील पंडा की कविता

# गलियां

एक छोटी सी गली में
बसी होती है एक बड़ी सी दुनिया
दुनिया प्रेम की।
इंद्रधनुष के रंगों वाली दीवारें
और झाँकती हुई हवाओं
के गीत गाने वाली खिड़कियां
जो उस खूबसूरत दुनियां को
रचने में, उसे सुंदर बनाने में
लगाती है दौड़।
गली में उगता है गुलाब
गुलाब पर मंडराते है भौंरें
और गाते है मधुर गीत।
गली की दुनिया
दुनिया की गली से बहुत बड़ी
होती है !
गली की दुनिया में
ना जाने कितने चाँद होते हैं
जहाँ बहती है असँख्य नदियां

सागर की गर्जना मानो ऐसे
सुनाई देती है कि सागर के लिए
निर्मित करना पड़े कोई बहुवचन।
दुनिया की गली में होते हैं
सब सीमित।
समुद्र से उगने वाला सूरज
भी निकलता है
किसी गली की दुनिया से
और गुम हो जाता हैं
दुनिया की गली में।
गलियों की चौड़ाई, उनकी लंबाई
के आँकड़े, बिल्कुल झूठे होते हैं
सरकारी कागज़ो पर।
गलियों को नापने निकलते है
छोटे-छोटे कदम
जो दौड़कर भागकर
बतलाते है गलियों की लंबाई और चौड़ाई।
गलियों के कोई एक नाम नहीं होते
गलियां अपना नाम रखना नहीं जानती
आखिर रखता कौन है उनके नाम ?
धोबी गली, लोहार गली, चमार गली
पंडित गली, मास्टर गली, हिन्दू गली
मुस्लिम गली।

गलियां इंसानों से अच्छी होती हैं
भेदभाव रहित जीवन जीती हैं
मुस्लिम गली अज़ान पढ़ते हुए
हिन्दू गली में आकर शंख बजाती है
हर शहर, कस्बा, गाँव, बस्ती, मोहल्ले
में घुली मिली होती हैं गलियां
चौड़ी गली, सकरी गली, लंबी गली, छोटी गली
एक छोटी सी गली में बसी होती है
एक बड़ी सी दुनिया
दुनिया प्रेम की।
घर जाने वाली गलियों से हमें
प्रेम करना आना चाहिए
घर जाने वाली गलियां जानती हैं
करना हमसे प्रेम
गलियों में गलियां
मिली होती हैं।
पेड़ों पर चिड़ियों के घर
जाने वाली गलियां
भी होती होंगी ! गलियों के नाम
ची....ची ....., चु .... चु ....
होते होंगे।
और समाए होंगे वो भी खुद में
बहुत सा इतिहास
जैसे गली के गली
बनने का इतिहास। स्व

# परिन्दे :
# पाठ, दर-पाठ

**मोहन कुमार**

हिन्दी कहानी का उद्भव और विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ हिन्दी कहानी का स्रोत हितोपदेश, पंचतंत्र व जातक कथा आदि में ढूंढने का प्रयास किया जाता है। आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रवर्तन भारतेंदु युग में हुआ। माधवराव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' को हिन्दी की पहली कहानी माना जा रहा है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के प्रारंभिक कहानीकारों में इंशाल्लाह खां की 'रानी केतकी की कहानी', किशोरी लाल गोस्वामी की 'इंदुमति', बंग महिला यानी राजेन्द्र बाला घोष की 'दुलाई वाली', रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' आदि कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। अन्य विधाओं की तरह हिन्दी कहानी को भी अध्ययन की सुविधा के लिए कई भागों में बाँटा गया है। चूँकि प्रेमचंद का हिन्दी कहानी विधा को प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका और योगदान रहा है। इसलिए प्रेमचंद को केन्द्र में रखकर हिन्दी कहानी का काल विभाजन किया जाता है। इस आधार पर हिन्दी कहानी के विकास के कालक्रम को चार भागों में बांट सकते हैं- प्रेमचंदपूर्व हिन्दी कहानी, प्रेमचंदयुगीन हिन्दी कहानी, प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी। स्वातंत्र्योत्तर युग के कहानीकारों में निर्मल वर्मा एक महत्वपूर्ण नाम हैं। स्वाधीनता के बाद भारतीय समाज की परिस्थितियाँ तेजी से बदलीं। व्यक्ति के स्वतंत्र चेतना का तेजी से विकास हुआ। समाज और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नयेपन की मांग की जाने लगी। साहित्य में भी नयेपन का प्रवेश हुआ। नयी कहानी का आरंभ इसी स्वातंत्र्योत्तर दौर में हुआ।

निर्मल वर्मा हिन्दी के प्रतिष्ठित कथाकार थे। आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। हिन्दी कथा साहित्य में आधुनिकताबोध का समावेश करने वाले रचनाकारों में उनका विशिष्ट स्थान है। हिन्दी कहानी विधा के स्वरुप को बदलने में उनका महत्वपूर्ण अवदान है। यद्यपि निर्मल वर्मा को हिन्दी में भावपूर्ण, गंभीर और अवसाद से भरी हुई कहानियाँ लिखने के लिए याद किया जाता है तथापि निर्मल वर्मा स्वाधीन भारत के सबसे महत्वपूर्ण कहानीकारों में से एक हैं।

उनकी सात कहानियों का पहला संग्रह 'परिन्दे' शीर्षक से सन् 1959 में प्रकाशित हुआ । इस संग्रह में शामिल उनकी कहानियां हैं- 'अंधेरे में', 'तीसरा गवाह', 'डायरी का खेल', 'माया का मर्म', 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'सितंबर की एक शाम' और 'परिन्दे' । संग्रह की अंतिम कहानी के नाम पर संग्रहका शीर्षक रखा गया- 'परिन्दे' । प्रकाशन के बाद से ही ये कहानियाँ लगातार कहानी के पाठकों-समीक्षकों का ध्यान आकर्षित करती रही हैं । परिंदे कहानी को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई, उसका अपना अलग वैशिष्ट है। इसे हिन्दी की पहली नयी कहानी माना जाता है। स्पष्ट है कि परिन्दे कहानी का हिन्दी कहानियों के बीच एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रसिद्ध समीक्षक नामवर सिंह ने इस कहानी के संबंध में लिखा है- "व्यक्ति-चरित्र वही है, जीवन स्थितियाँ भी रोज की जानी-पहचानी ही है, लेकिन निर्मल के हाथों वही स्थितियाँ इतिहास की विराट नियति बन कर खड़ी हो जाती हैं और उनके सम्मुख खड़ा व्यक्ति सहसा अपने को असाधारण रूप से अकेला पाता है। और उसकी जबान से निकला हुआ मामूली-सा वाक्य एक युगव्यापी प्रश्न बन जाता है।"[1] संग्रह के रूप में प्रकाशित होने से पूर्व परिन्दे कहानी अमृतराय के संपादन में 'हंस' पत्रिका के अर्द्धवार्षिक संकलन में सन् 1957 में प्रकाशित हुई थी । संग्रह के रूप में प्रकाशन के बाद नामवर जी ने आकाशवाणी इलाहाबाद और 'कृति' के लिए इसकी समीक्षा लिखी और कहानी के तौर पर परिन्दे को हिन्दी की पहली नयी कहानी और एक संग्रह के रूप में इसे 'नई कहानी का पहला संग्रह' घोषित किया।

**परिंदे कहानी में प्रेम का भी अद्भुत चित्रण हुआ है । इस कहानी के सभी प्रमुख पात्रों के जीवन में प्रेम अपूर्ण और अधूरा है । परंतु कोई भी पात्र प्रेम से वंचित नहीं है । सभी महत्वपूर्ण पात्र किसी न किसी से प्रेम करते हैं ।**

निर्मल वर्मा की कहानी परिंदे के आरंभ में न्यूज़ीलैंड मूल की ख्यातिलब्ध आधुनिकतावादी अंग्रेजी कथाकार कैथरीन मैन्सफील्ड की एक पंक्ति उद्धृत की गई है । अंग्रेजी में लिखी गई वह पंक्ति है- "Can we do nothing for the dead? And for a long time the answer had been-nothing !"[2] इन पंक्तियों का भावार्थ है- क्या हम मरे हुए के लिए कुछ नहीं कर सकते ? और एक लंबे समय के बाद भी जवाब है कुछ नहीं ! उपरोक्त पंक्तियां निर्मल वर्मा की इस कहानी को समझने के लिए कुंजी का कार्य करती हैं । परिंदे कहानी की नायिका और उसके अन्य सभी पात्र एक गहरी निराशाबोध और मृत्युबोध से ग्रस्त हैं। इस कहानी को पढ़ते हुए कहीं भी इन पात्रों के जीवन में उल्लास और हर्ष आदि सकारात्मक भावों का निशान नहीं मिलता है । बल्कि सर्वत्र पात्रों पर निराशा और मृत्यबोध की बहुत ही गहरी काली छाया पड़ी मिलती है। पूरी कहानी में मृत्यु बोध की गहराई और उसकी भयावहता का यथार्थ पसरा हुआ दिखाई पड़ता है। निर्मल वर्मा के चरित्र आधुनिक युग के चरित्र हैं परंतु इनकी निराशा आदिम है । ये पात्र सोचते हैं कि अंततः मनुष्य की यात्रा कहां तक है और क्यों है ? अस्तित्व और औचित्य का प्रश्न इन पात्रों के मनोभाव पर हावी है । कहानी का एक प्रमुख पात्र ह्यूबर्ट पूछता है- "डॉक्टर क्या, मृत्यु ऐसे ही आती है ?"[3] कहानी के पात्रों को तमाम चीजों में मृत्यु और निराशा की गहरी छाया दिखाई पड़ती है- "गिरता हुआ हर 'पोज' एक छोटी सी मौत है, मानो घने छायादार वृक्षों की काँपती छायाओं में कोई पगडण्डी गुम हो गई हो, एक छोटी सी मौत जो आने वाले सुरों को अपनी बची-खुची गुंजों की साँसें समर्पित कर जाती है... जो मर जाती है किन्तु मिट नहीं पाती, मिटती नहीं इसलिए मरकर भी जीवित है, दूसरे सुरों में लय हो जाती है।"[4]

मनुष्य जीवन की कई विशेषताएँ और विसंगतियाँ होती हैं। बहुत कुछ ऐसा होता है जिसे व्यक्ति जानते हुए भी नहीं जानना चाहता। वह सत्य को जानता

तो है पर वह उसे मानना नहीं चाहता। वह जानता है की मृत्यु जीवन का अनिवार्य सत्य है, सुख-दुख, लाभ-हानि, पीड़ा-हर्ष आदि से ऊपर एक अनिवार्य और अटल सत्य है और वह है मृत्यु। परंतु फिर भी मनुष्य कभी इसके बारे में नहीं सोचता वह हर समय आगे बढ़ना चाहता है। परिवार, मित्र, संबंधी आदि मनुष्य के सुख और दुख में उसके साथ होते हैं। अपनों के सहयोग से मनुष्य बड़े से बड़े दुख को भी सह लेता है परंतु जब वही मनुष्य अकेला होता है तब उसके मन में जो निराशा का भाव आता है वह बहुत ही घातक होता है। इस अवस्था में वह सकारात्मक सोच और संकल्प से अपने दु:खों को कम करने का प्रयत्न करता है। लतिका कहती है- "हर साल ऐसा ही होता है, मि. ह्यूबर्ट। फिर कुछ दिनों बाद विण्टर स्पोर्ट्स के लिए अंग्रेज टूरिस्ट आते हैं। हर साल मैं उनसे परिचित होती हूँ। वापिस लौटते हुए वे हमेशा वादा करते हैं कि अगले साल भी आएंगे, पर मैं जानती हूं कि वे नहीं आएंगे, वे भी जानते हैं कि वे नहीं आएंगे, फिर भी हमारी दोस्ती में कोई अंतर नहीं पड़ता।"[5]

सन् 1955 ई. के आसपास भारत में आजादी से मोहभंग, तनाव और नई राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों में नयी रचना दृष्टि का विकास हुआ। सन् 1954-55 ई. के आसपास हिन्दी कहानी अपने विकसित रूप में नई कहानी के रूप में विकसित हुई। नयी कहानी का संसार विविधताओं से भरा हुआ है। कहानी का यह आंदोलन अपने समय की संश्लिष्टताओं की रचनात्मक अभिव्यक्ति है। आधुनिकता बोध और यथार्थ की वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति इस दौर की कहानियों में हुई है। शहरी मध्यम वर्ग इस दौर में उपजी आधुनिकता के नए प्रवृत्तियों के साथ परिवार समाज स्त्री-पुरुष संबंधों के पड़ताल और जीवन की विसंगतियों और विडंबनाओं को इस दौर की कहानियों में कथ्य बनाया गया। यथार्थवाद, अति-यथार्थवाद, अस्तित्ववाद और आधुनिकतावाद जैसे विचारों को नई कहानी में भारतीय परिवेश के साथ विवेचित-विश्लेषित किया गया। कहानी और नई कहानियां जैसी लघु पत्रिकाएं इसके लिए मंच बनी। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नामवर सिंह अपनी किताब 'कहानी नई कहानी' में 'नई कहानी की पहली कृति परिंदे' शीर्षक लेख में निर्मल वर्मा की कहानियों खासकर परिंदे पर विचार करते हुए लिखते हैं- "फ़कत सात कहानियों का संग्रह 'परिंदे' निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है बल्कि जिसे हम नयी कहानी कहना चाहते हैं उसकी भी पहली कृति है। पढ़ने पर सहसा विश्वास नहीं होता कि ये कहानियां उसी भाषा की हैं जिसमें अभी तक शहर, गांव, कस्बा और तिकोने प्रेम को ही लेकर कहानीकार जूझ रहे हैं। 'परिन्दे' से यह शिकायत दूर हो जाती है कि हिन्दी कथा साहित्य अभी पुराने सामाजिक संघर्ष के स्थूल धरातल पर ही 'मार्कटाइम' कर रहा है। समकालीनों में निर्मल पहले कहानीकार हैं जिन्होंने इस दायरे को तोड़ा है- बल्कि छोड़ा है; और आज के मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या को उठाया है।"[6]

प्रेम का मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। परिंदे कहानी में प्रेम का भी अद्भुत चित्रण हुआ है। इस कहानी के सभी प्रमुख पात्रों के जीवन में प्रेम अपूर्ण और अधूरा है। परंतु कोई भी पात्र प्रेम से वंचित नहीं है। सभी महत्वपूर्ण पात्र किसी न किसी से प्रेम करते हैं। लतिका, जूली, ह्यूबर्ट, डॉक्टर मुखर्जी जैसे चरित्र प्रेम करते हैं। मगर विडंबना यह है कि उनका प्रेम अधूरा और अपूर्ण है। लतिका कैप्टन गिरीश नेगी से प्रेम करती है लेकिन वह युद्ध में मारा जाता है। अतः लतिका का प्रेम अपूर्ण रह जाता है। उसके जीवन में प्रेम का अभाव है इसलिए जब वह जूली के पास किसी मिलिट्री अफसर का प्रेम पत्र देखती है तो वह पहले तो उससे रोकती-समझाती है परंतु फिर मन-ही-मन सोचती है कि क्या वह अपने अभाव का बदला दूसरों से नहीं ले रही है। दरअसल लतिका की समस्या आधुनिक समाज में मनुष्य मात्र की समस्या है। सभी अपने अधूरे प्रेम का बदला जाने-अनजाने दूसरों के मार्ग में बाधा बनकर ले रहे हैं। डॉक्टर मुखर्जी को अपने

देश बर्मा (रंगून) से बेइंतहा प्यार है । डॉक्टर मुखर्जी विदेशी धरती पर मरना नहीं चाहते हैं- "बातों के दौरान डाक्टर अक्सर कहा करते हैं- मरने से पहले मैं एक दफा बर्मा जरूर जाऊंगा और तब एक क्षण के लिए उनकी आंखों में एक नमी-सी छा जाती ।"[7] वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र के विचार में 'परिन्दे प्रतीक हैं उन टूटे हुए प्रेमियों के जो अपनी-अपनी जगहों से टूटकर उस पहाड़ी स्थान पर एकत्र हो गये हैं । लतिका, डॉ. मुखर्जी, मिस्टर ह्यूबर्ट भी तो परिन्दे ही हैं किन्तु परिन्दे तो एक ठहराव के बाद मैदान की ओर उड़ जायेंगे किन्तु वे तीनों कहाँ जायेंगे? वे तो उसी सुनसान पहाड़ी स्थान पर एक साथ होते हुए भी अलग-अलग रहने के लिए अभिशप्त हैं ।'

परिंदे मानव नियति की कहानी है । मनुष्य के जीवन का उद्देश्य आखिर क्या है ? मनुष्य की यात्रा कहां तक है ? मनुष्य कहां पहुंचेगा ? अर्थात् मनुष्य का अस्तित्व और उसकी जीवन-यात्रा का प्रश्न इस कहानी में हमारे सामने उपस्थित होता है । 'आख़िर हम कहां जाएंगे ?' - यह प्रश्न इस कहानी के केंद्र में है । कहानी के सभी प्रमुख पात्र अपनी नियति के प्रति अनिश्चित हैं । खासकर कहानी की नायिका लतिका और डॉक्टर मुखर्जी तो अपने घर भी नहीं जाते हैं । दिनभर उड़ने के बाद परिंदे भी शाम को वापस अपने घोंसले में लौट आते हैं लेकिन आधुनिक समाज में मनुष्यों की दशा इतनी बदतर है कि वे लौट कर अपने घर भी नहीं जा पाते हैं । विकास और तरक्की के तमाम दावों और प्रतिमान स्थापित करने के बाद भी मनुष्य जीवन की यही स्थिति और नियति है । डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि "पहाड़ के पीछे से आते हुए पक्षियों के झुंड को देखकर परिन्दे की लतिका चलते-चलते सोचती है: 'क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं ? लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जाएंगे ?' प्रश्न मामूली है लेकिन कहानी के माहौल में वह सिर्फ पक्षियों का या लतिका का व्यक्तिगत प्रश्न नहीं रह जाता । जैसे इस प्रश्न से लतिका, डॉक्टर मुखर्जी, मि. ह्यूबर्ट सबका संबंध है- इन सबका और इनके अलावा भी और सबका । देखते-देखते प्रेम की एक कहानी मानव-नियति की व्यापक कहानी बन जाती है और एक छोटा-सा वाक्य पूरी कहानी को दूरगामी अर्थवृत्तों से वलित कर देता है । हम कहां जाएंगे यह वाक्य सारी कहानी पर अर्थ गंभीर विषाद की तरह छाया रहता है ।"[8]

सन् 1940 और 1950 के दशक में अस्तित्ववाद पूरे यूरोप में एक विचारक्रांति के रूप में उभर कर सामने आया । यूरोप के दार्शनिक व विचारकों ने इसमें अपना योगदान दिया । इनमें ज्यां-पाल सार्त्र, अल्बर्ट कामू व इंगमार बर्गमन आदि महत्वपूर्ण हैं । निर्मल वर्मा की परिन्दे कहानी को पढ़ते हुए इस कहानी पर पाश्चात् अस्तित्वादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट तौर पर परिलक्षित होता है । 'अस्तित्ववाद' मानव केंद्रित दृष्टिकोण हैं । अर्थात् इसमें सम्पूर्ण जगत में मानव को सबसे अधिक महत्ता प्रदान की जाती है । अस्तित्ववादी विचार या प्रत्यय की अपेक्षा व्यक्ति के अस्तित्व को अधिक महत्त्व देते हैं । मनुष्य के अर्थ की खोज की धारा में हताशा या निराशा का भी बहुत बड़ा भाग होता हैं । अस्तित्वाद के अनुसार दुख और अवसाद को जीवन के अनिवार्य एवं काम्य तत्त्वों के रूप में स्वीकार करना चाहिए । व्यक्ति को अपनी स्थिति का बोध दु:ख या त्रास की स्थिति में ही होता है । पीड़ा और दुःख मनुष्य को अपने जीवन के अर्थ को खोजने में सहायता करता हैं । मनुष्य जब भी किसी असहाय या इस तरह की परिस्थिति से गुज़रता है जिसका परिणाम उनके वश में नहीं होता है तब उसे स्वयं के अस्तित्व के बोध होने की संभावना अधिक होती है । परिन्दे कहानी को पढ़ने के बाद यह महसूस होता है कि अस्तित्वाद की उपरोक्त विशेषताएं इस कहानी में मिलती हैं । कहानी के पात्र दु:ख और निराशा के बीच अपने और जीवन के अस्तित्व और सार्थकता की तलाश करते हैं । लतिका डॉक्टर से पूछती है- "डॉक्टर सबकुछ होने के बावजूद वह क्या चीज है जो हमें चलाये चलती है, हम रुकते हैं तो भी अपने रेले में वह हमें घसीट ले जाती है ।"[9]

निर्मल वर्मा को 'स्मृति का कथाकार' कहा जाता है। उनकी कहानियों में अतीत की स्मृतियां दर्ज हुई हैं। परिन्दे कहानी पर भी इसका प्रभाव है। दु:ख और व्यथा और उससे उपजी खामोशी उनके पात्रों की विशेषताएं हैं। स्थितियाँ और वातारण भी निर्मल वर्मा की कहानियों में प्रमुखता से उपस्थित होता है। परमानन्द श्रीवास्तव के मतानुसार निर्मल वर्मा की यथार्थ संवेद्यता आत्मचेतना पर आधारित होने के कारण अधिक गहन और तीव्र है। निर्मल वर्मा पर भारतीय संवेदना के कथाकार न होने जैसे कई आरोप लगाये गये परन्तु अपने कहानियों के माध्यम से उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य में अपना अलग स्थान बना लिया। परिन्दे सहित निर्मल वर्मा की अन्य कहानियों के संबंध में उनकी ये पंक्तियां बिल्कुल सही और सटीक साबित होती हैं कि 'जब कभी सोचता हूँ, हर बार कोई नया नुक्ता उभर आता है, जिसकी तरफ पहले ध्यान नहीं गया था या किसी बात का नया पहलू नज़र आने लगता है जिसे पहले न देख सका था।'

यह कहानी कई मायनों में पूर्व की हिन्दी कहानियों से भिन्न और विशिष्ट है। कहानी के चरित्रों और घटनाक्रम में एक विशेष अंतर्संबंध दिखाई पड़ता है। स्नो-फॉल की तरह ही इस कहानी के हर किरदार में ठंडापन व्याप्त है जो बर्फ की तरह ठंडी और जमी हुई है। ऐसा लगता है कि यह ठंडापन और जमाव एक लंबे समय से कायम है और जो कहानी के अंत तक कायम रहती है। नियति का प्रश्न भी इस कहानी में बेहद गंभीरता के साथ उठाया गया है। डॉक्टर मुकर्जी ह्यूबर्ट से पूछते हैं- "क्या तुम नियति पर विश्वास करते हो ?"[10] दरअसल कहानी के पात्र अपने जीवन की नियति से भिज्ञ-अनभिज्ञ होने के द्वंद से जूझते हुए उसे स्वीकार करने से कतराते हुए प्रतीत होते हैं। इसलिए आधुनिक होने के बाद भी निर्मल वर्मा की इस कहानी के पात्र अपेक्षाकृत कम मजबूत और परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाने का प्रयास करने वाले पात्रों के रूप में उभरकर सामने आते हैं। इनमें परिस्थितियों से संघर्ष और उनपर विजय प्राप्त करने की प्रवृत्ति के बजाय परिस्थितियों से समझौता करने की सामंजस्यवादी प्रवृत्ति ज्यादा दिखाई पड़ती है। अस्तित्व की तलाश में भटकते परिंदों के माध्यम से इस कहानी में जीवन के अनिवार्य प्रश्नों पर दार्शनिक ढंग से विचार किया गया है जिसका प्रभाव बहुत व्यापक, गहरा और तीव्र है।

**संदर्भ सूची:**


1. सिंह, नामवर. (2016). कहानी नयी कहानी. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 52
2. ____(2011). कहानी संग्रह. संपादित- हिन्दी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन. पृ. 160
3. यादव, राजेंद्र (सं.). (2014). एक दुनिया समानांतर. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 178
4. वही, पृ. 178
5. वही, पृ. 181
6. सिंह, नामवर. (2016). कहानी नयी कहानी. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 52
7. यादव, राजेंद्र (सं.). (2014). एक दुनिया समानांतर. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 168
8. सिंह, नामवर. (2016). कहानी नयी कहानी. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 52
9. यादव, राजेंद्र (सं.). (2014). एक दुनिया समानांतर. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 191
10. वही, पृ. 170-171 स्व

तस्वीर इन्टरनेट से साभार

# लहर : युवा आक्रोश की सतहें

**डॉ. निकिता जैन**

हिन्दी की लघु पत्रिकाओं में अगर 'लहर' का नाम न लिया जाए तो लघु पत्रिकाओं का इतिहास अधूरा ही रह जाएगा। 'लहर' अपने समय की उन सशक्त पत्रिकाओं में से एक थी जिसने अन्य छोटी पत्रिकाओं के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि संसाधनों की कमी के बावजूद एक बेहतरीन पत्रिका कैसे निकाली जा सकती है। 'लहर' की शुरुआत सन् 1957 में हुई थी। करीब 23 से 24 वर्ष तक 'लहर' कभी नियमित तो कभी अनियमित रूप से निकलती रही। इस बीच पत्रिका पर कई बड़े घराने की पत्रिकाओं ने आरोप भी लगाये लेकिन बावजूद इसके यह पत्रिका, अपनी बेबाकी और ईमानदारी के बल पर पाठकों के हृदय में अपनी जगह बनाये रखने में सफल हुई। हिन्दी साहित्य में 'लहर' के अवदान पर प्रकाश डालने के लिए उसे अलग-अलग संदर्भों में विवेचित किया गया है। इस शोध-पत्र के माध्यम से हिन्दी साहित्य में 'लहर' पत्रिका के योगदान का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

**बीज शब्द:** लहर पत्रिका, अवदान, पक्षधरता, प्रशस्त, निहायती, अर्थोपार्जन, छींटाकशी, अव्यावसायिक, आपातकाल, अव्यावसायिक, इतिहास।

'लहर' शुरुआत से ही अपने लक्ष्य को लेकर स्पष्ट थी। पत्रिका में राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि सभी मुद्दों पर बहस की जाती थी। जहाँ तक संपादकीय दृष्टिकोण की बात है तो पत्रिका में प्रकाशित सामग्री की धार जितनी सपाट और धारदार होती थी उतने उसके संपादकीय नहीं। 1957 से लेकर 1980 (के आसपास) तक इन 23-24 वर्षों में ऐसे बहुत कम मौके आये हैं जिनमें 'लहर' के संपादकीय वाकई में गंभीर और किसी विशेष मुद्दे की ओर संकेत कर रहे हों। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि पत्रिका में ज़बरदस्ती किसी भी चालू विषय पर संपादकीय लिख कर संपादक को अपना धर्म निभा देना चाहिए लेकिन संपादक से इतनी उम्मीद पाठकों को अवश्य

होती है कि जो समकालीन स्थितियां हैं चाहे वो साहित्यिक हों या राजनीतिक या सामाजिक- जब इनसे सम्बंधित मुद्दों को पत्रिका में जोर-शोर से उठाया जा रहा है तो उस पर सम्पादक का अपना एक दृष्टिकोण आना भी उस पत्रिका और उसके पाठक के लिए बहुत आवश्यक हो जाता है और 'लहर' इसी जगह कमज़ोर पड़ती प्रतीत होती है।

'लहर' के अधिकतर अंकों में या तो संपादकीय स्तम्भ है ही नहीं और अगर हैं तो उसमें- प्रस्तुत अंक या आगामी अंक के बारे में सूचना ही अधिक दी गयी है। इसके अतिरिक्त जो विशेषांक निकले हैं उनमें अवश्य लेखक या भाषा विशेष पर अपना रुख स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है। इसके अलावा कुछेक अंकों में ज़रुर 'लहर' ने कुछ विषयों को लेकर संपादकीय स्तम्भ में अपना पक्ष पाठकों के समक्ष रखा है। अपने संपादकीय स्तम्भ में छोटी पत्रिकाओं के संघर्ष को लेकर 'लहर' पत्रिका ने अपना स्वर बुलंद किया है। मई 1968 में प्रकाशित अपने छोटे से संपादकीय नोट में सम्पादक ने 'लघु पत्रिकाओं' के आर्थिक संकट का मुद्दा उठाया कि कैसे ये पत्रिकाएँ अल्पसाधनों के बावजूद अपनी वैचारिक पक्षधरता को लेकर संघर्षरत हैं। इसी मुद्दे को विस्तार देते हुए अगस्त 1968 के संपादकीय में प्रकाश जैन ने लघु पत्रिकाओं को उनके उत्तरदायित्वों से परिचित कराया और उनके हौसले को बढ़ाते हुए कहा- "हम हर कदम पर ज़िन्दगी और मौत से जूझ रहे हैं। पर यह भी सही है कि मृत्यु निश्चित है- चाहे आज हो या कल। अत: आवश्यक है कि हम आंतरिक शक्ति का सहारा लें और जागरूक लेखकों के साथ अपनी दृष्टि खुली रखकर चलें। कोई पत्रिका जीवित रहती है या असमय मर जाती है ये बात कतई महत्त्व नहीं रखती; महत्व रखती यह बात कि अगली आने वाली पत्रिका का मार्ग वह अपने जीवन-काल में प्रशस्त करती है या नहीं।"[1] ज़ाहिर है कि छोटी पत्रिकाओं का कोई निश्चित भविष्य नहीं होता, अर्थ के अभाव में उनका बंद हो जाना कोई नयी बात नहीं है और ऐसी हजारों लघु पत्रिकाएँ निकली और बंद हुई जिनके नाम भी लोगों को शायद ध्यान न हों लेकिन यहाँ शोहरत और नाम से अधिक अपने उत्तरदायित्व के प्रति समर्पित रहने की बात कही गयी है जो अपने जीवन काल में ऐसे पदचिह्न छोड़ जाएँ जो दूसरी पत्रिकाओं के लिए एक उदाहरण बने। लेकिन एक सच्चाई यह भी है कि हर पत्रिका आगे आने वाली पत्रिका का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती। इसके पीछे कई कारण हैं- सबसे बड़ा कारण है पत्रिका की अनियमितता। सही समय पर प्रकाशित न होने के कारण पत्रिका को लेखक वर्ग और सीमित पाठक वर्ग दोनों की ही आलोचना का शिकार होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सही समय पर स्तरीय रचनाओं का न मिलना, लेखकों का शोषण, कुछ भी उठाकर छाप देना आदि कारण भी पत्रिकाओं के प्रकाशन में बाधा उत्पन्न करते हैं। प्रकाश जैन अपने संपादकीय में इस समस्या की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं- "लघु पत्रिकाओं की कुछ स्थिति ऐसी है कि बहुत बड़ी संख्या में निकलने के कारण इनके स्तर और नियमितता में सुधार इसलिए नहीं हो रहा है क्योंकि आज के रचनाकार का पाठक-वर्ग लेखक-वर्ग तक ही सीमित है। .....हिन्दी जानने वालों की इतनी बड़ी संख्या के बावजूद अधिकतर पत्रिकाएँ उतनी ही प्रतियाँ छपवाती हैं, जितनी की उन्हें ज़रूरत होती है।"[2] यह बात सोलह आने सच है कि लघु पत्रिकाओं के पाठक भी अधिकतर वही हैं जो उनमें लिखते हैं और इसके बाद आते हैं वह शोधार्थी जो अपने शोध-कार्य के दौरान इन पत्रिकाओं के संपर्क में आते हैं। ऐसे साहित्यप्रेमी बहुत कम हैं जो इन पत्रिकाओं विशेषकर छोटी पत्रिकाओं को पढ़ने के लिए उत्सुक रहते हों। यह स्थिति जैसी तब थी, आज भी वैसी ही बनी हुई है। 60 वर्ष बाद आज भी छोटी पत्रिकाओं के ऊपर जो अस्तित्व का संकट मंडरा रहा है उससे निजात पाना कठिन दिखाई देता है।

'लहर' ने लघु पत्रिकाओं के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए न केवल सुझाव पेश किये बल्कि समय-समय पर वह ऐसे प्रश्नों को भी उठाती रही जो वाकई में

लघु पत्रिकाओं के विकास में अवरोधक सिद्ध हो रहे थे। जनवरी 1969 के संपादकीय में प्रकाश जैन ने 'लघु या छोटी पत्रिकायें' इस नामकरण को लेकर कुछ प्रश्न उठाये- "यह नामकरण ही गलत नहीं है क्या ? छोटी पत्रिका माने ? क्या वैसा ही कुछ, जैसे भारत में छोटा आदमी, छोटी जात ? या फिर पत्रिका का छोटा आकार ? हंसी की बात नहीं है यह ? हम सहस्त्राब्दियों से चले आ रहे ऊँच-नीच, छोटे-बड़े के भेद को मिटाने का प्रपंच रचकर इस भेदभाव की शाखाएं-उपशाखाएं बढ़ाते जा रहे हैं।"[3] यहाँ पर प्रकाश जैन पत्रिकाओं को छोटी या बड़ी श्रेणी में रखने के पक्ष में नहीं हैं। उनका तर्क भी सही है- किसी को छोटा या बड़ा कहना उसे हीनता का एहसास कराने जैसा है फिर यह नामकरण क्यों ? लघु पत्रिकाओं के संदर्भ में तो यह नामकरण और भी विवादास्पद है क्योंकि ऐसी पत्रिकाओं का विज़न बहुत बड़ा है फिर यह पत्रिकाएँ लघु या छोटी कैसे हुईं ? लघु पत्रिकाओं के नामकरण को लेकर शायद ही इससे पहले किसी अन्य पत्रिका ने इन पहलुओं पर गौर किया हो जिन पर 'लहर' ने बड़ी तार्किक दृष्टि से प्रकाश डाला। प्रकाश जैन ने प्रस्तुत संपादकीय में स्पष्ट किया कि लघु या छोटी पत्रिकाओं को अव्यावसायिक पत्रिकाएँ कहना ज्यादा बेहतर है क्योंकि यह पत्रिकाएं किसी मुनाफे के तहत नहीं निकाली जातीं बल्कि ये किसी निश्चित साहित्यिक, सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य से जुड़ी होती हैं।

'लहर' पत्रिका भले ही अव्यावसायिक पत्रिकाओं के लिए एक उदाहरण बन गयी हो लेकिन इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि आये दिन बड़ी पत्रिकाओं के निशाने पर 'लहर' जैसी पत्रिकाएँ हमेशा ही रहती थीं। दिनमान जैसी बड़े घराने की पत्रिकाओं ने 'लहर' पर अर्थोपार्जन का आरोप लगाया। 'लहर' के संदर्भ में एक लम्बी टिपण्णी 'दिनमान' में प्रकाशित हुई जिसका जवाब संपादक मनमोहिनी ने कुछ यूँ दिया- "मैंने कहा था कि- 'लहर' ने स्वयं को कभी छोटी पत्रिका नहीं कहा और 'लहर' छोटी पत्रिका है भी नहीं। ...छोटी पत्रिका किसी की जीविका का साधन नहीं हो सकती। वह वैसे भी अल्पायु होती है प्राय : किन्तु 'लहर' हमारी जीविका का साधन है। इस बात को अब इस रूप में प्रचारित किया जा रहा है, कुछ गलत लोगों द्वारा कि मनमोहिनी जी ने कहा है, 'लहर' अर्थोपार्जन कर रही है। मुझे दया आती है, शब्दों का इतना गलत अर्थ समझने वालों पर या फिर गलत न भी समझ कर गलत अर्थ लगाने वालों पर।"[4] प्रस्तुत कथन में स्पष्ट रूप से मनमोहिनी जी ने 'लहर' को जीविका का साधन माना है लेकिन यहाँ जीविका का साधन का मतलब अर्थोपार्जन से नहीं है बल्कि उस उद्देश्य से है जिसे 'लहर' पूर्ण कर रही थी। दरअसल जीवन का पहिया केवल अर्थ के आधार पर नहीं चल सकता उसे चलाने के लिए एक उद्देश्य या लक्ष्य का होना अत्यंत आवश्यक है जो अर्थ की आवश्यकता से अलग जीवन की सम्पूर्णता के साथ जुड़ा हुआ हो- मनमोहिनी जी 'लहर' के संदर्भ में इसी जीविका के बारे में बात कर रही थीं लेकिन 'दिनमान' जैसी पत्रिकाएँ इस वाक्य को गलत अर्थ में ले गयीं और 'लहर' पर छींटाकशी करने लगीं। 'दिनमान' की इस टिप्पणी के कारण 'लहर' में लम्बी बहस चली। दिनमान की टिप्पणी के बाद 'लहर' ने कुछ साहित्यकारों से इस विषय पर विस्तृत प्रतिक्रिया की मांग की थी जिनमें से कुछ लोग पत्रिका के समर्थन में आये तो कुछ लोगों ने इस पर गंभीर आरोप लगाकर इसे कटघरे में खड़ा कर दिया। इनमें से एक थे 'विजयबहादुर सिंह' जिनके तीन पृष्ठ के पत्र को 'लहर' ने प्रकाशित किया था। विजयबहादुर सिंह

**दरअसल जीवन का पहिया केवल अर्थ के आधार पर नहीं चल सकता उसे चलाने के लिए एक उद्देश्य या लक्ष्य का होना अत्यंत आवश्यक है जो अर्थ की आवश्यकता से अलग जीवन की सम्पूर्णता के साथ जुड़ा हुआ हो।**

ने बड़ी ही बेबाकी के साथ अपनी बात रखते हुए कहा कि जो 'दिनमान' ने 'लहर' पर आक्षेप लगाये हैं वो वाकई में गलत हैं लेकिन इसमें सारा दोष 'दिनमान' जैसी पत्रिकाओं का भी नहीं है। वे 'लहर' के आर्थिक संकट पर सवालिया निशान लगाते हुए आगे कहते हैं- "मुझे व्यावसायिकता और अव्यावसायिकता का यह नारा उतना ही बेमानी और शरारती नज़र आता है जितना कुछ दिनों पहले का- साहित्यिक कहानी बनाम लोकप्रिय कहानी। ...अपनी बात कहने के लिए जब आप दूसरों पर आक्षेप करते हैं तो इस बात के लिए आपको तैयार रहना चाहिए कि दूसरे भी आपका विरोध कर सकते हैं। ...दिनमान ने छोटी पत्रिकाओं पर छींटाकशी की है। मैं समझता हूँ उसने तो केवल जवाब दिया है। क्या छोटी पत्रिकाओं ने 'व्यावसायिक पत्रों' पर कम छींटाकशी की है ?... अपना आय-व्यय विवरण प्रकाशित कर, दे मारिए दिनमान के मुंह पर और साबित कर दीजिये कि आपने अर्थोपार्जन नहीं किया है।"[5] विजयबहादुर सिंह ने स्पष्ट शब्दों में 'लहर' से उनके बेगुनाह होने का प्रमाण मांग लिया और साथ में यह भी कह दिया कि छोटी पत्रिकाएँ जो व्यावसायिकता और अव्यावसायिकता का नारा देती रहती हैं, उसे देने से पहले अपनी स्थिति पर गौर करें। ये तो नहीं कहा जा सकता कि हर छोटी पत्रिका अव्यावसायिकता के सारे मापदंडों पर खरी ही उतर रही है। ज़ाहिर है कि एक पत्रिका को निकालने के लिए कुछ धन की आवश्यकता तो हर व्यक्ति को होगी। सवाल यह है कि वो धन केवल पत्रिका को प्रकाशित करने में इस्तेमाल किया जा रहा हो न कि निजी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु। क्योंकि लघु पत्रिकाएँ किसी की निजी ज़रूरतों को पूर्ण करने के लिए नहीं निकाली जातीं और यही सबसे बड़ा अंतर है व्यावसायिक और अव्यावसायिक पत्रिकाओं में। अव्यावसायिक पत्रिकाएँ, व्यावसायिक पत्र- पत्रिकाओं पर यही आक्षेप लगाती आ रही हैं कि निजी स्वार्थ एवं लालच की वजह से यह अपना उत्तरदायित्व भूल गए हैं, लेकिन अब आलम यह था कि व्यावसायिक घराने के इन पत्रों ने भी अपना मोर्चा इन अव्यवसायिक पत्रों के खिलाफ खोल दिया था जिसके ऐवज़ में यह पूरी बहस छिड़ी थी। 'लहर' ने दिनमान की टिप्पणी के खिलाफ साहित्यकारों एवं पाठकों से सहयोग जुटाने का जो प्रयास किया था उसमें 'लहर' को ही सलाह दी जा रही थी कि वह इन छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान न देकर अपने उत्तरदायित्वों को पूरी तरह निभाते हुए आगे बढ़ें- "मैं नहीं जानता कि 'लहर' ने कितना अर्थोपार्जन किया है... लेकिन 'लहर' का अन्य श्रमजीवी पत्रिकाओं और उनके समर्थकों के प्रति रुख हमेशा तर्कसंगत नहीं रहा है। बिना तथ्यों की पड़ताल किए आप भी इस तरह के आक्षेप छापते रहते हैं। आप ज़रा-ज़रा सी बातों पर भड़क कर, अपने गंभीर उत्तरदायित्वों को धता बता देते हैं, इस दृष्टि से 'लहर' और 'दिनमान' में क्या फर्क रह जाता है।"[6] उक्त कथन से ज़ाहिर है कि 'लहर' जिस 'दिनमान' पत्रिका के खिलाफ अन्य लघु पत्रिकाओं, साहित्यकारों और पाठकों का समर्थन हासिल करना चाह रही थी वह नहीं कर पायी बल्कि उस भंवर में स्वयं ही फंस गयी। इस बात में दो राय नहीं है कि 'लहर' अर्थोपार्जन के लिए नहीं निकाली जा रही थी। लेकिन 'लहर' में प्रकाशित होने वाले विज्ञापन, उसे कभी-कभार मिलने वाली ग्रांट उसकी परेशानी का सबब बने हुए थे। यहाँ तक कि पत्रिका में छपने वाले लेखक भी 'लहर' पर यह आरोप लगा रहे थे कि गैर सरकारी और कभी-कभी सरकारी विज्ञापन मिलने के बावजूद पत्रिका अपने लेखकों को कुछ पारिश्रमिक क्यों नहीं देती है ? यह बार-बार आर्थिक संकट का राग क्यों अलापती है ? यहाँ पर यही कहा जा सकता है कि लघु पत्रिकाओं का संघर्ष कोई छोटा-मोटा नहीं है जो कुछेक विज्ञापनों और ग्रांट से हल हो सके। लगातार 20 से 25 वर्ष किसी पत्रिका को निकालना बिना किसी स्थायी आर्थिक आधार के यह अपने आप में बड़ी बात है। 'लहर' पर कितने ही आरोप क्यों न लगे हों लेकिन एक बात स्पष्ट है कि पत्रिका ने कभी अपने उसूलों के साथ बेईमानी नहीं की। पत्रिका ने

अपने ऊपर आक्षेप लगाने वालों को भी उसी निष्पक्षता के साथ प्रकाशित किया जितना कि अन्य किसी को। 'लहर' का यही दृष्टिकोण ही उसे अन्य पत्रिकाओं से अलग करता है। जैसे कि पहले भी चर्चा की गयी है कि केवल आकार मात्र या कह देने मात्र से ही कोई पत्रिका छोटी या लघु नहीं हो जायेगी उसके लिए नजरिये का होना सबसे अहम है, जो 'लहर' के पास था। इसी दृष्टिकोण के सहारे 'लहर' इतने वर्षों तक साहित्य और समाज को एक नयी सीख देती रही। कमियां हर किसी में होती हैं 'लहर' में भी थीं लेकिन इन सबके बावजूद पत्रिका के सम्पादकीयों में 'छोटी पत्रिकाओं' के आर्थिक संकट, संघर्ष, दृष्टिकोण आदि पहलुओं को उठाकर नए ढंग से विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

**नयी कहानी के संदर्भ में हिंदी लेखक शुरुआत से ही दो गुटों में बंटे नज़र आये हैं- एक वो जो इस आन्दोलन या प्रवृत्ति का समर्थन करते हैं और दूसरे वो जो 'नयी कहानी' को किसी भी कीमत पर नया मानने के लिए तैयार नहीं है। यही कारण है कि नयी कहानी हमेशा विवादों से घिरी रही है।**

'लहर' पत्रिका अपने दौर की महत्त्वपूर्ण लघु पत्रिकाओं में से एक थी। राजनीति की कड़वी सच्चाई को 'लहर' ने सदा बेबाकी से प्रस्तुत किया है। लेकिन आपातकाल के दौरान इस पत्रिका का क्रांतिकारी स्वर उभर कर उस रूप में सामने नहीं आया जिसकी इससे उम्मीद थी। फ़रवरी 1978 के अंक में 'पत्र-प्रतिकिया' स्तम्भ के अंतर्गत कुंतल कुमार जैन की एक लम्बी टिप्पणी प्रकाशित हुई। यह प्रतिक्रिया कुंतल कुमार ने आपातकाल के संदर्भ में की थी। उन्होंने आपातकाल के समय 'लहर' पत्रिका की खामोशी को लेकर कुछ सवाल किये। साफ़ शब्दों में उन्होंने संपादक प्रकाश जैन से यह पूछा कि आप तब कहाँ थे जब देश पर 'आपातकाल' के काले बादल छा रहे थे। तब आपने अपनी इस पत्रिका में क्यों कोई विरोध प्रदर्शित नहीं किया और अब जब आपातकाल को खत्म हुए एक वर्ष होने वाला है तब आप आपातकाल पर लिखी हुई रचनाओं का सिंहावलोकन कर रहे हैं- "इमरजेंसी का विरोध करने वाले और उसके खूंख्वार रूप को पहचानने और उसका प्रतिकार करने वाले समूचे साहित्य में या समूचे भारतीय साहित्य में गिने लोग ही थे लेकिन आज जब इमरजेंसी नहीं है तो उसका विरोध करने वाली भेड़ों के झुंड के झुंड हर जगह दिखाई दे रहे हैं। अजीब विडम्बना है कि 'लहर' में भी यह लहर इमरजेंसी के बाद आई है। समझ नहीं आता कि अब इमरजेंसी है ही नहीं तो इसके खिलाफ इस शोर गुल क्या मतलब है ?"[7] कुंतल कुमार के इस कथन के जवाब में प्रकाश जैन ने अपने संपादकीय मेंलिखा कि- "कुंतल भाई ने कहा है 'जो हो चुका, उसका आज क्या रोना है ?' अर्थ यह हुआ कि आदमी बीते क्षण को एक दम भूल जाय, या नकार दे, वीतरागी हो जाए ? पर यह क्या संभव है ? और क्या ऐसा होना चाहिए ? .....कुंतल भाई को विश्वास करना चाहिए कि ऐसे भी लोग थे जिन्होंने उन दिनों जमकर मंच से ऐसी आक्रोशी कविताओं का जी भर पाठ किया और उस समय ऐसी अफसर भी थे जो कवि सम्मलेन के बीच से उठकर चले जाते थे, ताकि वे कवि उन कविताओं को सुना सकें।... और आपातकाल मात्र आपातकाल ही था, उस समय जनहित की दृष्टि से कुछ नहीं हुआ, यह कहना भी अपने साथ छल करना है।"[8] प्रकाश जैन के संपादकीय से ऐसा मालूम होता है कि वह आपातकालीन स्थितियों को समझने में कोई भूल कर रहे थे। आम-जनता का आपातकाल में कितना हित हुआ और कितना अहित यह हम सभी जानते हैं। आम जनता किस मानसिक दुविधा का शिकार थी यह बात भी किसी से छिपी नहीं है। रही सामाजिक हित की बात तो यहाँ यह कहना ज्यादा सही रहेगा कि आपातकाल में जो सामाजिक हित की चर्चा हुई थी जिसे जोर-शोर से उछाला गया था- वो एक छलावा

था ताकि जनता इस व्यवस्था का विरोध न कर सके। हाँ ! यह बात सही है कि उस वक़्त ऐसे कुछ साहित्यकार, कवि अवश्य थे जो जनता के समक्ष इमरजेंसी का असली रूप प्रस्तुत करने से नहीं हिचक रहे थे। नागार्जुन की कविताओं को कौन भूल सकता है, दुष्यंत की गज़लें किसने नहीं सुनीं, लेकिन यह भी एक सच था कि सेंसरशिप और सत्ता के डर से अपने को अव्यावसायिक कहने वाली पत्रिकाएँ भी ऐसी रचनाकारों की रचना प्रकाशित करने में डर रही थीं। कुंतल कुमार अपनी प्रतिक्रिया में ऐसी ही पत्रिकाओं की चुटकी लेते हुए कहते हैं कि- "आपातकाल आते ही मेरे तो हाथ-पाँव फूल गए थे। तब एक भले आदमी ने मुझ से कहा था कि छोड़ो आप इन पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ना, और पढ़ो गांधी के लेखों को, जो बिना ज़रूरत के कुछ भी नहीं लिखते थे। इसके बाद मैं ज्यों-ज्यों गांधी को पढ़ता गया, मुझे मेरा खोया बल वापस मिलने लगा। कहने का मतलब यह है कि हम शब्दों को बिना ज़रूरत अनाप-शनाप प्रयोग न करें तो अच्छा है। तब थोड़े दिन बाद जाकर मैंने लिखा- पहले होठों से कहा गया, तुम जीभ के कहने में मत आओ। बाद में दांतों ने जीभ से कहा, 'तुम अपनी मर्यादा में रहो। अब हम ही तुम्हारे पहरेदार हैं। रक्षा भार हम पर है और देखो, देखो ! सेना हमारा शरीर है। अब हर चीज पहले हम चख लेंगे। फिर मौसम अनुकूल होने पर तुम्हें देंगे। बात नयी भी है और पुरानी भी है। सिंहासनों से जुड़ी इसकी कहानी भी है कि जीभ जब सच के साथ हो जाती है तो कड़वी नीम हो जाती है। फिर मुंडी पकड़कर, गला दबाकर, बाहर निकालकर सरे आम रास्ते पर काट दी जाती है। या दांतों के पीछे डाल दी जाती है।...कोई भी हिन्दी पत्रिका इसे छाप न सकी। कोई 'वेट एंड सी' की बात कहने लगा, किसी ने उत्तर ही नहीं दिया। किसी ने चुपचाप कविता लौटा दी... हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की यथास्थिति को बदलने का शोर मचाने वाले अव्यावसायिक संपादक भी बदल गए थे।"[9] 'लहर' जैसी पत्रिका जो इमरजेंसी लगने से कई वर्ष पहले ही राजनीति के झूठ का पर्दाफाश करने वाली कवितायेँ छाप रही थी उसकी व्यंग्य-धार इस समय क्यों मंद पड़ गयी थी? क्या अनिश्चितकालीन पत्रिकाओं को भी यह डर सताने लगा था कि वे बंद हो जायेंगी या उनकी जीभ को सरेआम काट दिया जाएगा? और इमरजेंसी एवं सत्ता परिवर्तन के पश्चात यह पत्रिकाएं इतिहास में अपने नाम को दर्ज कराने के लिए कोई आडम्बर रच रही थीं? सच क्या है यह जानना मुश्किल है लेकिन यह ज़रूर है कि 'लहर' जैसी अनेकों पत्रिकाओं ने इमरजेंसी के बाद उसकी बखिया उधेड़नी शुरू की। मई,1978 के अंक में लहर ने आपातकालीन पृष्ठभूमि पर एक कविता 'डर' प्रकाशित की जिसमें ऐसे पत्रकारों, संपादकों, साहित्यकारों की चुटकी ली गयी है जिनकी ज़ुबानों पर इमरजेंसी में ताला लग गया था-

"इतने ज्यादा डरे हुए हैं वे लोग
कि खतरे को खतरा कहते हुए
खुद लड़खड़ाने लगते हैं
चेहरे की संतुष्ट सुर्खी
पीली पड़ने लगती है
आँखें गोल-गोल घूमती हुई
सूंघने लगती हैं कुछ इस तरह
कि आस-पास ही
कहीं कोई डर तो नहीं।"[10]

आपातकाल के समय जो लोग डर कर बिल में छुपकर बैठे थे उन पर यह कविता गहरी चोट करती है। लेकिन अफ़सोस इस बात का है कि जब ऐसी धारदार कविताओं की आवश्यकता थी तब न तो कहने वाले कवि मिल रहे थे न छापने वाले संपादक।

नयी कहानी के संदर्भ में हिन्दी लेखक शुरुआत से ही दो गुटों में बंटे नज़र आये हैं एक वो जो इस आन्दोलन या प्रवृत्ति का समर्थन करते है और दूसरे वो जो 'नयी कहानी' को किसी भी कीमत पर नया मानने के लिए तैयार नहीं है। यही कारण है कि नयी कहानी हमेशा विवादों से घिरी रही है। 'लहर' में नयी कहानी को लेकर काफी चर्चाएं एवं बहसें हुई हैं। इन बहसों के बीच

अक्टूबर 1963 के अंक में 'लहर' में रमेश बक्षी का एक लम्बा आलेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था- "नई कहानी, पुरानी पीढ़ी और 'मालविकाग्निमित्र' का पहला श्लोक।"[11] इस आलेख में रमेश बक्षी ने उन पुरानी पीढ़ी के कहानीकारों की मानसिकता पर सवालिया निशान खड़े किये हैं जो साहित्य में नए कहानीकारों की पीढ़ी को फलते-फूलते देखते हुए मुंह बनाते हैं। अपने आलेख में वह सीधा निशाना चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और मन्मथनाथ गुप्त पर साधते हैं जिन्होंने 'सारिका' और 'आजकल' पत्रिकाओं में बारी-बारी से कुछ संपादकीय एवं लेख नयी कहानी और कहानीकारों के सम्बन्ध में प्रकाशित किये। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के संपादकीय का आशय समझाते हुए रमेश बक्षी लिखते हैं- "श्री चन्द्रगुप्त जी के कहने का आशय यह है कि यह नयी कहानी मूर्खतापूर्ण गुस्ताखी है और दुकानदारी चलाने के लिए संगठित विज्ञापनबाजी के रूप में फल-फूल रही है। उनके चश्मे में चार पीढ़ियाँ हैं- पहली : मध्यम, दूसरी : उत्कृष्ट, तीसरी : साधारण और चौथी : निकृष्ट। कहने का तात्पर्य यह है कि 'मध्यम' के पदचिह्नों पर उनकी उत्कृष्ट पीढ़ी चल रही है, शानदार रिकार्ड कायम कर रही है और 'साधारण' एवं 'निकृष्ट' पीढ़ियाँ उतावलेपन में व्यस्त हैं।"[12] रमेश बक्षी इस कथन में 'आशय' की बात कर रहे हैं लेकिन वास्तविकता में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने शब्दशः नयी कहानीकारों के बारे में क्या कहा इसका चित्रण पूरे आलेख में कहीं नहीं मिलता। आशय तो एक ही बात के हजारों निकलते हैं लेकिन कहने वाले का अभिप्राय क्या है इस बात को समझना बेहद ज़रूरी है। रमेश बक्षी ने बिना कोई उदाहरण दिए केवल संपादकीय एवं लेखों का हवाला देते हुए पुरानी पीढ़ी के लेखकों को कटघरे में खड़ा कर दिया और नयी पीढ़ी के संपादकों और लेखकों को 'लिबरल और सौजन्यशील' बना दिया- "मेरी सोच में नयी पीढ़ी का संपादक अपनी समकालीन, आने वाली और आ रही पीढ़ी के प्रति बड़ा 'लिबरल और सौजन्यशील' है। संपादक अश्क जी हों, भैरवप्रसाद गुप्त हों, श्रीपत राय हों, डॉ. धर्मवीर भारती हों, लक्ष्मीचन्द्र जैन हों, मोहन राकेश हों, कमलेश्वर हों। इन सबके संपादन को देखा जा सकता है कि कैसी सहजता और कैसे प्यार से नए कहानीकारों को ये आगे लाये औए उन्हें प्रतिष्ठा दी।"[13] उपर्युक्त कथन में रमेश बक्षी ने जिन-जिन लेखकों या संपादकों के नाम लिए उनमें से अधिकतर तो स्वयं ही नयी कहानी आन्दोलन से जुड़े हुए थे तो वह कैसे नई कहानीकार का बहिष्कार करते ? इसके बाद रमेश बक्षी जी इन सभी लेखकों के संपादकीय के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कैसे यह नयी कहानीकारों की सरहाना करते हैं। यहाँ पर एक प्रश्न विचारणीय है कि जिन पुरानी पीढ़ी के संपादकों या लेखकों पर यह आरोप लगाया गया कि वह नए कहानीकार का विरोध कर रहे हैं उनके उस विरोधी वक्तव्यों को क्यों प्रस्तुत नहीं किया गया ? ऐसा लगता है रमेश बक्षी ने यह लेख केवल नयी पीढ़ी के लेखकों का गुणगान करने की दृष्टि से ही लिखा था तभी तो जिस 'मालविकाग्निमित्र' के श्लोक का हवाला देते हुए वह यह कहते हैं कि- "जो पुराना है वह सब सही है, यह भी गलत है और जो नया है, वही सही है, यह भी गलत है। अच्छे लोग परीक्षण करके ही किसी वस्तु को अपनाते हैं, मूर्ख लोग यानी अप्रबुद्ध लोग दूसरी की लकीर की फकीरी करते हैं।"[14] इसका अनुसरण वह स्वयं अपने लेख में नहीं कर पाए। अगर किया होता तो केवल आँख मूँद कर नए कहानीकारों की प्रशंसा और पुराने की बुराई न की होती। यह बात सही है कि नयी पीढ़ी के लेखकों को आगे बढ़ने का, अपनी प्रतिभा दिखाने का मौका मिलना चाहिए लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह जो लिख रहे हैं वो ही अंतिम सत्य हो गया। नए लेखकों द्वारा जो लिखा जा रहा था उस पर अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार तो हर किसी को है चन्द्रगुप्त जी ने या मन्मथनाथ जी ने भी यही किया इसका मतलब यह नहीं कि वह नई पीढ़ी के विरोधी हो गए और अपनी पीढ़ी को उत्कृष्ट मानने लगे।

रमेश बक्षी के इस लम्बे-चौड़े वक्तव्य के जवाब में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की एक टिप्पणी 'लहर' के नवम्बर

1963 के अंक में प्रकाशित हुई थी जिसमें उन्होंने बक्षी जी द्वारा लगाये गए आरोपों को पूर्ण रूप से मिथ्या घोषित करते हुए कहा- "श्री रमेश बक्षी का कथन एकदम मिथ्या है। उत्तम, मध्यम, साधारण और निकृष्ट वाली बात पूर्ण रूप से श्री रमेश बक्षी के दिमाग की उपज है। मेरे संपादकीय नोटों में 'नयी कहानी' का नाम सिर्फ अन्य व्यक्ति के उद्धरण में आया है। उस व्यक्तिविशेष की झुंझलाहट की मैंने अपने नोट में भर्त्सना की है। इन टिप्पणियों में 'नयी कहानी' को 'मूर्खतापूर्ण गुस्ताखी' या कुछ और कहने का तो सवाल ही नहीं उठता।"[15] चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपनी छोटी सी टिपण्णी में अपने संपादकीय मंतव्य को स्पष्ट कर दिया। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि रमेश बक्षी गलत हैं और चन्द्रगुप्त सही बल्कि यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया जा रहा है कि साहित्य में प्रवृत्तियों को लेकर सहमति और असहमति चलती रहती है लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं है कि किसी बात को तोड़-मरोड़ के इस रूप में प्रस्तुत किया जाए कि वह एक विवाद का रूप ले ले। विवाद साहित्य में नयी विचारधाराओं के उभार के लिए बहुत प्रेरक है लेकिन तभी जब वह विवाद स्वाभाविक एवं स्वस्थ तरीके से जन्म ले न कि उसे ज़बरदस्ती पैदा करने की कोशिश की जाए जैसा रमेश बक्षी के आलेख में प्रतीत होता है। जिन चार पीढ़ियों का ज़िक्र अपने आलेख में करते हैं उन चारों पीढ़ियों का हिन्दी साहित्य में बराबर का योगदान है इसमें कोई उत्तम या निकृष्ट नहीं है। हाँ ! यह ज़रूर है कि हर पीढ़ी में कुछेक ऐसे लेखक ज़रूर होते हैं जो उत्तम, साधारण, मध्यम होते हैं। ऐसे लेखक प्रेमचंद के काल में भी थे, उसके बाद की पीढ़ी में भी थे और नयी कहानीकार की पीढ़ी में भी होंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी व्यक्ति विशेष के लेखन के संदर्भ में की गयी टिप्पणी को आप पूरी प्रवृत्ति के साथ जोड़ देंगे और नयी पीढ़ी को लिबरल और पुरानी पीढ़ी को तानाशाह घोषित कर देंगे। इसमें दो राय नहीं है कि रमेश बक्षी ने चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के सम्पादकीय लेखों का बहाना बनाकर नयी कहानी और नए कहानीकारों का केवल और केवल प्रशस्तिगान किया है।

नवम्बर 1963 के अंक में मुद्राराक्षस ने 'नयी कहानी' की तुलना 'नई जवानी' के उस पोस्टर से कर दी जो गली-गली में लगे रहते हैं और जिनके लगने से किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता। मुद्राराक्षस अपनी इस टिप्पणी में 'नयी कहानी' पर तंज कसते हुए कहते हैं कि- "हम भी कहानियाँ लिखते हैं, और लोग भी लिखते हैं, वैसे ही ये लोग भी कहानियाँ बनाने का धन्धा करते हैं। इसमें तो कोई एतराज की बात नहीं है। यह दूसरी बात है कि हमने साहित्य की परम्परा से इस कला का लाइसेंस लिया है, तो उन्हें साहित्य के प्रकाशकों से इस दस्तकारी का लाइसेंस मिल गया है।"[16] मुद्राराक्षस साफ़ लफ़्ज़ों में 'नयी कहानी' को विज्ञापनबाज़ी की कहानी कहते हैं। वो मानते हैं कि इस अव्यावसायिक के पीछे नए लेखकों का अपना स्वार्थ छिपा है। नए कहानीकार 'कहानी' को नए एवं पुराने का नाम जानबूझकर दे रहे हैं ताकि साहित्यिक बाज़ार में वही कहानी बिके जिस पर नए का ठप्पा लगा है और जिसका प्रचार सबसे अधिक हो रहा है तभी तो 'नयी कहानी' नामक आन्दोलन भी चल पड़ा और कुछ पत्रिकाएं भी इस ब्रांड का समर्थन करने के लिए साहित्यिक गलियारों में आ गयीं। इन पत्रिकाओं में नयी कहानी को लेकर जो विज्ञापनबाजी होती है उसकी ओर संकेत करते हुए मुद्राराक्षस लिखते हैं- "अब कहानी के क्षेत्र में एक पत्रिका निकलती है। पत्रिका को अपनी बिक्री के लिय विज्ञापन करना है। विज्ञापन नहीं होगा, पत्रिका बिकेगी नहीं। प्रकाशक बंद कर देगा, तो लेखकों का ही घाटा होगा। प्रकाशक खुद तो विज्ञापन कर नहीं सकता। इसलिए अगर यह काम वह दूसरों से लेता है तो हम उन विज्ञापकों से क्यों नाराज़ हों ? अगर हम कविराज बोगसचंद के 'नई जवानी हासिल कीजिये' वाले पोस्टर चिपकाने वाले आदमी पर नाराज़ नहीं होते तो हमें 'नई कहानी ही पढ़िए' की आवाज़ लगाने वालों से चिढ़ क्यों ?"[17] यह बात सही है कि कुछेक लोगों ने साहित्यिक प्रवृत्ति को आन्दोलन

का रूप देकर उससे लाभ अर्जित करने की कोशिश की है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि 'नयी कहानी' की तुलना गली में लगे किसी भी अश्लील विज्ञापन से कर दी जाये। जहाँ तक बात है पत्रिकाओं की तो जो सम्पादक स्वयं 'नयी कहानी' के लेखक या उस आन्दोलन से जुड़े हुए हैं उनसे आप यह उम्मीद तो नहीं कर सकते कि वह 'नयी कहानी' को छोड़कर आपको पुरानी लेखकों की कहानी पढ़ने को बोलेंगे। हाँ ! यह बात सही है कि 'नयी कहानी' को लेकर साहित्यिक विज्ञापनबाज़ी हो रही थी और कुछ नए कहानीकारों ने 'कहानी' को दो भागों में बांटने का प्रयत्न भी किया लेकिन सभी नए लेखक इस दायरे के अंतर्गत दोषी नहीं ठहराये जा सकते और न ही केवल कुछेक लेखकों की विज्ञापन बाज़ी के आधार पर सम्पूर्ण 'नयी कहानी' के अस्तित्व को नकारा जा सकता है।

मुद्राराक्षस द्वारा 'नयी कहानी' पर जो प्रहार किया गया उसका जवाब सोमा वीरा ने अपने वक्तव्य 'कहानीवाद X विवाद = बिरादरीवाद + अवनति मार्ग'[18] में दिया। सोमा वीरा सबसे पहले सभी साहित्यकारों से यह प्रश्न करती हैं कि 'कहानी' के नाम पर जो बिरादरीवाद साहित्य में हो रहा है उससे फायदा और नुक्सान किसका हो रहा है ? पुरानी और नयी कहानी के नाम पर जो लोग एक-दूसरे पर छींटाकशी कर रहे हैं वह साहित्य को लाभान्वित कर रहे हैं या उसे टुकड़े-टुकड़े में बांटकर उसके अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं। यह गुटबंदी क्या साहित्य को नया मार्ग प्रशस्त कर पाएगी ? दरअसल साहित्यिक गुटबाजी की कोई बुनियाद नहीं होती यह केवल साहित्यकार अपने-आप को लाभ पहुंचाने के लिए करते हैं। नयी कहानी और पुरानी कहानी को लेकर जिस तरह की बहस चली वे बेबुनियाद थीं क्योंकि इस बात को तय करने कोई मापदंड नहीं है कि कौनसी कहानी बेहतर है 'नयी' या 'पुरानी'। कहानी केवल कहानी होती है वक्त और परिस्थिति के साथ उसके शिल्प या कथ्य में परिवर्तन आना स्वाभाविक है जैसा 'नयी कहानी' में हुआ या उससे पहले की जो कहानी थी उसमें भी परिलक्षित होता है। इसलिए 'कहानी' को लेकर जो गुटबाजी हुई उसके पीछे साहित्यकारों और लेखकों का अपना निजी स्वार्थ था।

सोमा वीरा 'नयी कहानी की नयी जवानी' से तुलना पर मुद्राराक्षस से यह प्रश्न करती हुई लिखती हैं कि- "क्या एक बार भी उन्होंने यह सोचा कि यह लिखकर उन्होंने 'नयी कहानी' का कितना भारी अपमान किया है ? जिस दिन 'नयी कहानी' केवल विज्ञापन बन जायेगी, उस दिन वह साहित्य-क्षेत्र में टिकेगी भी नहीं। जैसे पुराना विज्ञापन फटकर, दीवार पर से उखड़ जाता है, वह भी वैसे ही विनिष्ट हो जायेगी।"[19] इस बात में कोई दो राय नहीं है कि 'नयी कहानी' केवल फतवे बाजी या विज्ञापन बाजी नहीं थी, गंभीर और अच्छी कहानियाँ नए कहानीकार भी लिख रहे थे। केवल कुछेक साहित्यकारों ने अपनी सुविधा के लिए कहानी में बिरादरीवाद को जन्म दिया ताकि उनकी अपनी साहित्यिक दुकानें चलती रहें। क्योंकि इन विवादों से किसी आम पाठक का कोई कोई लेना-देना नहीं था। जो पाठक कहानी या कविता पढ़ने के लिए पत्रिका खरीदते हैं उनकी नज़र शायद ही इन विवादों पर जाती होगी और न ही वह किसी कहानी या कविता को इस दृष्टि से पढ़ते होंगे की कौन सी पुरानी और कौन सी नयी (साहित्यिक विद्वानों को छोड़कर)। अगर इन विवादों से साहित्य को कोई नयी दिशा मिल रही होती तो ज़रूर इनका कोई फायदा होता लेकिन यह विवाद तो साहित्य को उसकी बनी बनायी दिशा से भी भटकाने की कोशिश कर रहे थे।

इन विवादों के अलावा 'लहर' में नयी कहानी को लेकर बहुत से आरोप और प्रत्यारोप का सिलसिला चलता रहा कभी 'नयी कहानी आन्दोलन' की आवश्यकता पर तो कभी 'नए कहानीकारों की रचनात्मकता' को लेकर। दरअसल सोमा वीरा ने अपने एक लेख में नयी कहानी को लेकर एक बात कही थी कि अगर नयी कहानी को किसी आन्दोलन का रूप नहीं दिया गया होता तो शायद यह विवाद कभी शुरू ही नहीं होता।

बात भी सही है 'नयी कहानी' और 'नयी कहानी आन्दोलन' में फर्क है। नयी कहानी वो भी थी जब प्रेमचंद या इंशा अल्लाह खान या माधव राव सप्रे लिख रहे थे क्योंकि वो साहित्य को एक नया रूप देने की कोशिश रहे थे। ज़ाहिर सी बात है कल जो नयी थी वह आज पुरानी हो गयी और जो आज नयी है वह कल पुरानी हो जायेगी लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जो पुराना हो गया वो साहित्य में रहने या चर्चा करने के योग्य नहीं। भारतेंदु या प्रेमचंद आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे। इसलिए पुरानी पीढ़ी या नयी पीढ़ी का विवाद असल में कोई विवाद है ही नहीं। साहित्य की प्रगति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं जिसे आन्दोलनकारी नहीं समझ रहे। सोमा वीरा नयी कहानी आन्दोलन पर रोशनी डालते हुए लिखती हैं- "जिन्होंने यह आन्दोलन प्रारंभ किया था, उनके मन में यह विश्वास नहीं था कि केवल अपनी रचनाओं के बल पर वे साहित्य के क्षेत्र में स्थान पा सकेंगे, इसीलिए गुट बाँध कर वे अपना निश्चित स्थान बना लेना चाहते थे। एक बार आन्दोलन उठ खड़ा हुआ तो अनेक दूसरे भी मैत्री के कारण, या अपनी आवाज़ शामिल करने के लिए मैदान में कूद पड़े। किन्तु अगर वे ऐसा न करते तो, विवाद कब का खत्म हो गया होता।"[20] विवाद ख़त्म हो गया होता तो शायद नयी कहानी की चर्चा आज उस रूप में नहीं हो रही होती जिस रूप में हो रही है। विवाद खत्म हो गया होता तो न सोमा वीरा लिख रही होतीं न ही उनकी टिपण्णी प्रकाशित हो रही होती। शायद नए साहित्य की मांग ही नया विवाद है जिसकी शुरुआत 'नयी कहानी' से हुई।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि 'लहर' के बिना लघु पत्रिकाओं का इतिहास ही नहीं बल्कि हिन्दी साहित्य का इतिहास भी अधूरा है। 'लहर'अपने समय की एक उन सशक्त पत्रिकाओं में से एक थी जिसने तमाम मुश्किलों का सामना किया लेकिन अपने साहित्यिक लक्ष्य से नहीं भटकी और अव्यावसायिक पत्रिकाओं के लिए एक मिसाल बनी। आज जब लघु पत्रिका आन्दोलन अपनी राह से भटक गया है तब भी 'लहर' जैसी पत्रिकाएं एक उदाहरण बनकर इस आन्दोलन और हिन्दी साहित्य की उन्नति एवं समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

**संदर्भसूची:**


1. लहर, संपादक- प्रकाश जैन और मनमोहिनी, वर्ष-12, अंक- 2, अगस्त-1968, पृ. 3
2. वही, अंक-3, सितम्बर-1968, पृ. 3-4
3. वही, वर्ष-12, अंक- 7, जनवरी- 1969, पृ. 6
4. वही, अंक- 8-9, फ़रवरी-मार्च-1969, पृ. 3
5. लहर, संपादक- प्रकाश जैन और मनमोहिनी, वर्ष 12, अंक-10, अप्रैल-1969, पृ. 32-33
6. वही, पृ. 28
7. लहर, संपा- प्रकाश जैन, वर्ष-19, अंक- 4, फ़रवरी-1978, पृ. 5-6
8. वही, पृ. 3-4
9. वही, पृ. 7-8
10. वही, अंक-7, मई- 1978, पृ. 52
11. लहर, संपादक- प्रकाश जैन और मनमोहिनी, वर्ष- 7, अंक- 4, अक्टूबर-1963, पृ. 73
12. वही, पृ. 74
13. वही, पृ. 75
14. वही, पृ. 74
15. वही, अंक- 5, नवम्बर- 1963, पृ. 81
16. वही, पृ. 81-82
17. वही, पृ. 82
18. वही, वर्ष-7, अंक- 12, जून-1964, पृ. 61
19. वही, पृ. 64
20. वही, वर्ष-8, अंक-9, मार्च-1965, पृ. 64 स्व

# इतिहास में दर्ज होतीं दलित स्त्रियाँ

रजनी प्रभा

बदलते सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों में इन दिनों कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को हमारे समाज के सामने जोरदार तरीके से ला खड़ा किया है, जिनमें दलित-विमर्श सबसे महत्वपूर्ण विषय के रूप में चर्चा का विषय बना हुआ है। 'दलित' शब्द सुनते ही मस्तिष्क में अनेक प्रश्न कौंधने लगते हैं, जैसे-दलित कौन है? दलित की पहचान क्या है? क्या कथित निम्न जातियाँ ही दलित हैं? या उन्हीं की तरह आर्थिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े अन्य सभी मनुष्य निजमें महिलाएँ भी शामिल हैं। गैर-दलितों द्वारा बनाए गए हिन्दी शब्दकोशों में 'दलित' शब्द का अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

'दलित शब्द मसला हुआ, मर्दित, दबाया हुआ, रौंदा या कुचला हुआ, विनष्ट किया हुआ आदि है।'[1] किन्तु यह शब्द पर्याय का मामला नहीं है, बल्कि 'दलित' शब्द एक सजीव श्रमवत बड़ी संख्या में मौजूद मानव-समूह है। इसे उसकी व्यावहारिक जीवन-स्थितियों में देखना उचित होगा, न कि शब्दाडंबरों में।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अस्पृश्य के लिए डिप्रेस्ड, अनटचेबल, बहिष्कृत आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह अस्पृश्य व्यक्ति ही दलित है। 'दलित' शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने लिखा है, 'दलित वर्ग' स्वयं में ऐसे लोगों का समूह है जो मुसलमानों से भिन्न एवं अलग है। यद्यपि उन्हें अछूत कहा जाता है, किन्तु वे हिन्दू जाति के किसी भी अर्थ में अविभाज्य अंग नहीं हैं। वे न केवल उनसे अलग रहते हैं, अपितु उन्हें जो दर्जा प्राप्त है, भी भारत में अन्य जातियों के दर्जे से बिल्कुल भिन्न है। भारत में अनेक, अन्य जातियाँ दयनीय एवं गुलामी की स्थिति में रह रही हैं, किन्तु दलित वर्गों की कृर्षि-कर्मियों और नौकरों के साथ अश्पृश्यता का बर्ताव नहीं किया जाता, जबकि दलित वर्ग अश्पृश्यता के अभिशाप के शिकार हैं। उन्हें मानवीय जीवन के लिए आवश्यक नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है।'[2] जैसा कि दलित के संबंध में दलित चिंतक हर्ष मंदर की मान्यता है, 'दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ गरीब और उत्पीड़ित व्यक्ति से है। दलित व्यक्ति वह होता है जो जमीन को तोड़कर प्रस्फुटित होता है। आदिवासी

महिलाएँ, बंधुआ मजदूर और अल्पसंख्यक आदि इसी श्रेणी के लोग हैं। दलित अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करता है। मेहनत करके खाने वालों की लुप्त हुई अस्मिता की पहचान वापस दिलाता है। दलित होने के कारण व्यक्ति साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, आर्थिक व राजनीतिक किसी भी क्षेत्र के निम्न से उच्चतम स्तर के अधिकार को प्राप्त करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।'[3]

गाँधी, मार्क्स और अम्बेडकर क्रमशः हरिजन, सर्वहारा और अस्पृश्यों की मुक्ति और शोषण विहीन समाज बनाने का सपना देखते थे। ये सभी व्यक्ति दबे, पिछड़े, अछूत और मजदूर वर्ग के हैं। इस नजरिये से देखा जाए तो ये दलित हैं। भारत के मार्क्सवादी समाजिक पृष्ठभूमि में जाति की वास्तविकता को नकार कर वर्ग-विहीन समाज बनाने की बात करते हैं, जबकि डॉ. अम्बेडकर के लिए दलितों की प्रथम लड़ाई वर्ण एवं जाति भेद के मूल को ही समाप्त करना है। उनके बिना सर्वहारा की मुक्ति संभव नहीं है। इस प्रकार शैक्षिक स्थिति एक जैसी होने पर भी दोनों मानव-समूह दलित की अवधारणा से अलग हो जाते हैं। भारत के अस्पृश्य कहे जाने वाले दबाए, सताए गए और मानवाधिकारों से वंचित रखे गए लोग ही दलित कहलाने के अधिकारी हैं।[4] यही बात हमें सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में देखने को मिलती है। बचपन यदि हिन्दी दलित आत्मकथाओं में महिला 'दोहरा' अभिशाप है तो सुशीला टाकभौरे का 'शिकंजे का दर्द' दलित महिला आत्मकथाकारों का आगाज है। शिकंजे का दर्द दलित नारी के शोषण के विरूद्ध के संघर्ष की गाथा है। बचपन से ही विद्रोही और स्वाभीमानी टाकभौरे जी का संपूर्ण जीवन ब्राह्मणवाद के खोखले सिद्धान्तों में पीसता रहा। पेशे से शिक्षिका होने पर भी वर्ण-व्यवस्था के चक्रव्यूह में उन्हें समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं करने दिया। दलितों में भी दलित समझे जाने वाली नारी मनुवादी समाज, दलित समाज, मनुवादी मनोवृत्तिवाले पुरुष समाज के शिकंजे में वह कई वर्षों तक से फँसी भीतर से मुक्ति के लिए छटपटाती अपने नारी जीवन को कोसने के लिए विवश दिखाई देती है। इस भेदभाव के दंश को झेलते हुए उनका दर्द झलकता है। वे कहती हैं- 'जातिभेद के दंश ने मुझे बहुत पीड़ित किया है। मेरे साथ ही ऐसी घटनाएं क्यों घटी? यह बात नहीं है, ऐसी घटनाएँ मेरे जैसे सभी के साथ लगातार घटती रहती हैं। अपमान वे हीं महसूस करते हैं जिन्हें सम्मान मिला हो या जिन्होंने सम्मान को समझा हो! सम्मान मिलने पर भी मैंने लगातार ऐसे जातिभेद और छुआछूत के अपमान को झेला है। मानसिक संताप की वे घटनाएँ मेरे लिए अविस्मरणीय बन गई हैं।'[5] आज यही दबले-कुचले लोग अपनी अस्मिता के लिए आगे आ रहे हैं। अस्मिता यानी पहचान! सदियों से इन्हें दबा कर, सता कर रखा गया। मनुवादी सोच ने समाज में कुव्यवस्था फैला रखी है। अपनी पहचान, अपने अधिकार और अपनी सामाजिक स्थिति को अब तक न पाने का इनका मुख्य विषय था शिक्षा का आभाव! सदियों तक दलितों और महिलाओं को शिक्षा से वंचित रखा गया। कहा गया कि महिलाओं की दो ही जगह है, एक रसोई में, दूसरा पति के बिस्तर पर। चौखट के बाहर की दुनियाँ इनके लिए नहीं। वहीं दलितों को भी केवल सेवा-सुश्रुता का साधन समझा गया ! उन्हें समाज में कोई सम्मान नहीं दिया गया। वर्ण-व्यवस्था में उन्हें सबसे नीचे का स्तर दिया गया। यानी कहीं न कहीं समाज की संकुचित विचारधारा ने इन दोनों को एक ही दर्जे में रखा। आज शिक्षा प्राप्त पर कर ये दोनों ही स्वयं के अस्मिता को पाना चाहते हैं। और स्वयं को समाज की मुख्यधारा से जोड़ना चाहते हैं।

दलितों को दयनीय दशा में पहुँचाने वाली शक्तियों की ओर इंगित करते हुए हिन्दी-मराठी के वरिष्ठ अनुवादक सूर्यनारायण रणसुमे का मानना है कि, 'भूख के अलावा और किसी भी प्रकार के जरूरत को दलितों में उभरने नहीं दिया गया था। श्रम और भूख तथा भूख और श्रम, यहीं तक उनकी जीवन यात्रा को सीमित कर दिया

गया था। अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति मनुष्य जब सजग हो उठता है तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह छटपटाने लगता है।'[6] 'समय बदलने के साथ चीजों के मायने भी बदलने लगते हैं। पहले शुरू-शुरू में 'उग्र' जी और प्रेमचंद जैसे लेखकों को जो दलितों के प्रति सहानुभूति रखते थे, उन्हें दलित लेखक माना गया। फिर चीजें बदलने लगी। चर्चित मराठी लेखक डॉ. शरण कुमार लिंबाले ने दलितों के विषय में लिखा है, 'गैर दलितों के लेखन में सहानुभूति और दया की दृष्टि होती है। सहानुभूति और दया नहीं चाहिए। हमें मानवतावादी उदार दृष्टिकोण से नफरत है। यह दृष्टिकोण हमारे सदियों के संताप को नजरअंदाज करता है। हमें यह गैस्दलित सफेद साहित्य कहना साहित्यिक व सांस्कृतिक छल और हेरा-फेरी है। यह बात मैं गैर-दलितों के संदर्भ में कह रहा हूँ।'[7] फिर बात आई की दलितों की हू-ब-हू पीड़ा, व्यथा, संवेदना आदि के बारे में कौन ज्यादा सटीक और यथार्थ लिख सकता है? वो जिसने स्वयं ये सब भोगा है यानी 'भोक्ता' या जिसने उसे परिस्थिति को देखा-समझा और लिखा यानी 'सृष्टा'। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने ज्योतिबा फुले के विषय में कहा है, 'गुलामी की यातना जो सहता है वही जानता है और जो जानता है, वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव और कोई नहीं।'[8] यानी एक दलित ही सच्चा दलित साहित्य लिख सकता है! वंचित, उपेक्षित, शोषित व दलित जीवन की स्थितियों को लेकर की गई साहित्यिक सर्जना रसात्मकता के आभाव में पाठक पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ती है। इस संदर्भ में डॉ. सी.बी. भारती का मत है कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र महान यूनानी विचारक सुकरात के विचारों से मेल खाता है। 'गोबर से भरी टोकरी भी सुन्दर बन जाती है, यदि वह अपना कुछ उपयोग रखती है, जबकी सवर्ण ढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोगी दृष्टि से अपूर्ण है।'[9] बदलते वक्त में दलित अस्मिता और साहित्य की तात्विकी भी बदल गई है। अब चाहे वो दलित लेख हो या गैर-दलित जो ब्राह्मणवाद का विरोध दिखायेगा वहीं दलित लेख की संज्ञा में आयेगा। यानी वह नास्तिक दर्शन के चार्वाक के सिद्धांतों का पालन करने वाला हो। जिसमें ब्राह्मणवाद के चारो-स्तम्भों, यथा-कर्मकांड, वणव्यवस्था, ईश्वर और पुनर्जन्म आदि को विरोध या निषेध हो।

'बंधुआ की बेटी' में आश्रयविहीन भंगी जाती की स्त्री की समस्याओं का चित्रण है। मनुवादी समाज ऐसी स्त्रियों को आश्रय नहीं देता। डॉ. कुसुम मेघवाल ने भी इस क्रम में लिखा है, 'हिन्दी का यह पहला उपन्यास है जिसमें भंगी जाती की पात्री को नायिका का स्थान प्राप्त हुआ है। अर्थात गैर-दलित उपन्यासकारों द्वारा रचित किसी भी हिन्दी उपन्यास है जिसमें भंगी जाति की पात्रों को सम्मानीय नायकत्व प्रदान नहीं किया है।'[10] प्रह्लादचंद की कहानी 'लटकी हुई शर्त' दलित पात्र गंगाराम में बढ़ती हुई दलित चेतना को पहचाना जा सकता है। ठाकुर रामकिसुन की पोती के विवाह के अवसर पर गंगाराम द्वारा एक शर्त रखी जाती है कि, 'खाने के बाद हम अपना पतल नहीं उठायेंगे। नेउत करके ले जाते है तो समुचित सम्मान दीजिये और यह सम्मान अगर आपने दिया तो सबने दिया-क्योंकि आप तो गाँव के सिरमौर हैं।[11] गंगाराम द्वारा समान भोज की यह शर्त रखना उसकी नवीन चेतना की परिचायक है, किंतु शर्त वहीं की वहीं लटकी रह जाती है और समाज की वास्तविकता सामने आ जाती है। मदन दिक्षित का उपन्यास 'मोरी की ईट' मेहतर समुदाय की जीवन-स्थितियों को अंतरंगता से उजागर करता है। इसमें मुख्य पात्र के रूप में मंगिया (मंगो) है, जो उसके पतन से शुरू होकर उसके आदर्श के साथ समाप्त होती है। मंगिया इस उपन्यास की केन्द्रित पात्र है। इसमें पुरुष पात्र डॉ. सुरेन्द्रनारायण पाण्डे जाति से ब्राह्मण है। वह मंगिया से प्रेम करता है। इसमें मंगिया व उसका समाज सुरेन्द्रनारायण पाण्डेय को साथ कोई बदसुलूकी नहीं करता, न ही उसे मंगी बनाता है, बल्कि मंगिया का चरित्र मानवीय स्तर पर समर्पण भाव से भरा है। यहाँ तक कि वह प्रेमी डॉ. सुरेन्द्र पांडे के वैद्य पुत्र के दुर्घटनाग्रस्त

होने पर उसे अपना खुन देकर उसकी जान बचाती है। इस उपन्यास के विषय में डॉ. कुँवरवाल सिंह के अनुसार, 'एक तरह से यह उपन्यास मंगिया की संघर्षगाथा है, एक स्वालंबी नारी बनने की प्रक्रिया और साधारण स्त्री से स्वाभीमानी स्त्री बनने की विकास-यात्रा।'[12] दीक्षित जी ने उपन्यास को भावुक बनाने की दृष्टि से दिखाया है कि ब्राह्मणी के पेट से पैदा बच्चें के शरीर में मेहतरानी के बच्चे के शरीर का खून दौड़ रहा है जो उसके डरपोक अवैध ब्राह्मण बाप का खून है। जैसा कि अर्चना वर्मा ने लिखा है, 'मंगिया के बेटे की नसों में ब्राह्मण का रक्त प्रवाहित हो रहा है, वैसे ही अब डॉ. के बेटे की नसों में मेहतरानी का रक्त दौड़ रहा है।'[13]

'अम्मा' कहानी की नायिका एक स्वाभिमानी, परिश्रमी और सच्चरित्र दलित महिला है, जो नाम-पहचान खोकर एक भाववाचक संज्ञा बनकर रह गई है । वह मेहनत की कमाई से बच्चों को पढ़ा-लिखा कर सम्मान का जीवन जीने की शिक्षा देती है। अपमानित कार्य की प्रतीक झाड़ू को वह हाथ नहीं लगाने देती । इस तरह 'अम्मा' दलित स्त्री की खुद्दारी का जीवंत उदाहरण है।[14] समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था ने मानव से मानव को पाटने का भरपूर प्रयास किया और इस व्यवस्था ने जातिवाद के कुव्यवस्था में पड़े लोगों की आँखों पर तो पट्टी बाँधी ही साथ में उनकी आत्मा पड़ पर भी ताला जड़ दिया। तभी तो सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में पढ़ी-लिखी शिक्षिका को भी कोई सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता तो था ही सवर्णों ने उनकी पीड़ा को भी महसूस नहीं किया। सहानुभूति के दो बोल भी नहीं फूटे उनसे। अकेली, असहाय टाकभौरे जब अकेली होती है तभी उनकी सास का देहान्त हो जाता है वो इस सब परिस्थितियों से अनभिज्ञ डरती है, रोती-चिल्लाती है मगर किसी का कलेजा नहीं पसीझता। कोई उन्हें सांत्वना नहीं देने आता। उल्टे बाद में उनके पति से कहा जाता है यहाँ क्रिया-कर्म नहीं किया जा सकता; आप कहीं और चले जाए। मृत देह के साथ वो अपने लोगों के पास रिक्शे से चले जाते हैं । जहाँ टाकभौरे का दर्द छलकता है- यहाँ हमनें अपने लोगों को अपना दुख बताया। हमारे लोगों ने हमार दुख समझा । हमारे दुख में वे भी सहभागी हुए, वे भी रोये मैंने रो-रो कर सबको बताया- 'मैं अकेली थी, मुझे कुछ जानकारी नहीं थी कि यह सब कैसे होता है? सासू माँ ने मेरा हाथ पकड़ लिया था मैं डरकर चीखी थी । मेरी चीख सुनकर कोई नहीं आया । मैं रोती रही मुझे रोता देखकर भी कोई नहीं आया । चचेरी ननद कमलाबाई बोली- 'हम तो कहते हैं, यहीं अपनों के बीच रहो। इधर-उधर परायों के बीच रहने क्यों जाते हो?' मैं उनसे क्या कहती? अपनों के बीच में भी परेशानियाँ थीं । शिक्षित होकर, अच्छी नौकरी करते हुए हम अच्छे जीवन-यापन की कामना करने लगे थे । मगर इसके लिए हमें सहयोग नहीं मिल सका।'[15] स्त्री-संघर्ष के साथ-साथ दलित-संघर्ष की वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित व्यथा-कथा है ये आत्मकथा। जिसमें आरंभ से अंत संघर्ष ही संघर्ष दृष्टिगोचर होता है।

समाज में व्याप्त विसंगतियों को मधुकर सिंह लिखित कहानी 'सुकना चमार की औलाद' में बखूबी दिखाया गया है । इस कहानी का मुख्य सार इस ओर इशारा करता है कि केवल जन्म से किसी में जन्मजात संस्कार नहीं आते अपितु जिस परिवेश में वो पलाबढ़ा होता है उसका भी उस पर यथार्थ प्रभाव पड़ता है । परिवेश से निर्मित व्यक्ति में जिन चाहे जिसका हो संरक्षण उसे जिसका प्राप्त होगा । उसमें गुण उसी के आयेंगे । परिस्थितियाँ दोनों ही तरह की हो सकती है । 'सुकना चमार की औलाद' एक ऐसे ही कहानी को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। ठाकुर वंशीधर सिंह को कोई औलाद न थी । ठाकुराईन की सूनी कोख हमेशा किसी फूल को तलासती रहती। वह तलाश फूलबाबू के आने से पूरी हुई सुकना चमार की कई संताने पहले ही थी, जब फेंकना माय ने फूल बाबू को जन्म दिया, तब ठकुराईन की सुनी कोख को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। फेंकना माय किसी भी सूरत में अपनी संतान को अपने से अलग नहीं करना चाहती थी । परन्तु उसके तथा अपने साथ-साथ अपने

बच्चों के भी उज्जवल भविष्य की कामना ने उसे विवश कर दिया। समय बितता गया। फूलबाबा सुकना के साथ अमानवीय व्यवहार करते रहते। एक दिन फूलबाबू का पागलाया मन सुकना को चाबुक लाने को कहते हैं। वह शैतान बन जाता है। फिर वही ठहाँका, 'तू घोड़ा बन सुकना, मैं सवारी करूँगा, बन ना। ला थमा दे मेरे हाथ में चाबुक।'

'चाबुक कहाँ से लाऊँ, फूल बाबू।'

'कहीं से भी ला।'

सुकना कहीं से तार उठा लाता है और कइयों को परस्पर लपेटकर चाबुक की शक्ल में फूलबाबू की हाथ में थमाता है।'[16] और फिर शुरू होता है शैतानी खेल। सुकना खून से लथपथ छटपटाता रहता है और फूलबाबू सटाक-सटाक की आवाज में बौराए ठहाकें लगाने लगते हैं। सुकना कराहता है, 'बस करो अब बर्दास्त नहीं हो रहा मुझसे।' मगर फूलबाबू तो बौराए हैं। पागल हाथी हो रहे हैं। सुकना की उधेड़कर ही दम लेंगे आज। 'ठहर सुकना की औलाद।' इसबार गरजते हुए झटके से उठता है सुकना और धड़ाम से छत पर पटकता है फूलबाबू को।' मार डालूँगा साले तुझकों आज। न रहेगी ऐसी दोगली औलाद, न सबूत रहने दूँगा ठकुरानी की महल अटारी का।'[17] सुकना चमार की हार दोनों ही सुरत में हुई। पुत्र से अपमानित होकर भी और अपने साथ-साथ। पुत्र की जान गवाँकर भी है। 'सुकना चमार की औलाद' कहानी में। जिसकी परिणती अत्यन्त दुखद होती है।

दलित और स्त्री ये दोनों ऐसी शोषण की साक्षात प्रतिमूर्ति है जिन्हें कभी अपनी अस्मिता नहीं मिली। समाज में सम्मान नहीं मिला। समाज में इन्हें सेवक वर्ग के अधिन ही रखा गया। इन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया। ताकि ये लोग अपनी अस्मिता, अपने अधिकार और पहचान को न जान पाय। समाज की मुख्यधारा से इन्हें वंचित रखा गया। वर्चस्वादी शक्तियों ने इन दोनों का केवल और केवल शोषण किया, पोषण नहीं। इन सवर्णों ने अगर दलितों को ऊपर उठने नहीं दिया। पढ़ने-लिखने, या आजाद नहीं होने दिया तो इन्होंने अपनी ही परिवार की स्त्रियों को भी कहाँ ये अधिकार दिये। चौके-बिस्तर और चौखट की चौहद्दी में इन्हें बाँध कर रख दिया। जिसके तहत इनका जितना भी शोषण हो सकता था इन्होंने किया। यानी कि समाज में इन दोनों को प्राप्त दर्जा एक ही था, अपमानित और सेवक का। जिसका आना न कोई वजूद था ना ही पहचान। इन्हें सिर्फ और सिर्फ साधन के रूप में प्रयुक्त सामग्री ही समझा गया। 'भारतीय समाज के संदर्भ में दलित वह है जो मनुवादी वर्ण-व्यवस्था के तहत शुद्र वर्ण में गिना जाता है। दलित शब्द किसी जाति या समुदाय का प्रतीक न होकर एक सार्वभौमिक अत्याचारी सत्य है। जो व्यक्ति सताया गया है, चाहे जातिगत रूप से आर्थिक रूप से या सांस्कृतिक रूप से या सामाजिक रूप से प्रताड़ित किया गया है वह दलित है। दलित का अर्थ वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र अर्थात छोटी जाति के समझे जाने वालों के रूढ़ हो गया है, लेकिन मैं इसे उचित नहीं मानता। 'दलित' का अर्थ है शोषित और पीड़ित चाहे वह किसी भी वर्ण, जाति, धर्म, लिंग या नस्ल का हो, यदि जुल्म और उत्पीड़न का शिकार है तो मैं उसे दलित मानता हूँ।'[18] पहले दलित साहित्य हमें जानना-पढ़ना पड़ता था। जिसे अब जिसकी तात्विकी बदलकर दलित अस्मिता में परिवर्तित हो गई हैं। इसके अंतर्गत केवल शूद्र वर्ण वाले ही नहीं अपितु कई और भी क्षेत्र जुड़ गये हैं जिनमें दलित, स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक, आदि भी जुड़ गये हैं। जो सदियों से शोषित होते रहे हैं। शिक्षा के आभाव में जिन्हें दबाकर-सताकर रखा गया। आज सरकारी योजनाओं का लाभ पा वे शिक्षित हो अपने को समाज की मुख्यधारा से जोड़ना चाहते हैं। अपनी खोई अस्मिता और पहचान को पाना चाहते हैं।

समासतः कहा जाना चाहिए कि दलित अस्मितामूलक साहित्य की तात्विकी ब्राह्मणवाद के प्रतिरोध में दर्ज कर्मकांड, वर्णव्यवस्था, ईश्वर और पुर्नजन्म से निःसृत है। अस्मितामूलक साहित्य में, दलित, स्त्री,

आदिवासी, थर्ड जेंडर हो या फिर अनाथ, भिखारी आदि, सबके शोषण के मूल में क्योंकि ब्राह्मणवाद की अनुसंगी शक्तियाँ हैं, इसीलिए उसके प्रतिरोध से ही दमित अस्मिता या अन्य अस्मितामूलक साहित्य को मुख्यधारा में शामिल किया जा सकता है। स्त्री-संघर्ष की चुनौतियाँ अधिक जटिल है, क्योंकि उनका दोहरा शोषण होता आया है। सामंती शक्तियों ने भी उनका शोषण किया और जातिवादी शक्तियों ने भी। अतः समाज की मुख्यधारा में उन्हें शामिल करने में प्राथमिकता देनी होगी। जैसा की दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर या फिर प्रो. श्योराज सिंह बेचैन का भी मानना है कि स्त्री-शक्ति की चेतना के विकास से उन्हें सामाजिक विकास की मुख्य विकास की धारा में शामिल किया जाना अधिक व्यवहारिक होगा क्योंकि उसका प्रभाव अन्य अस्मितामूलक वर्ग पर भी पड़ेगा।

**संदर्भ सूची :**


1. रामचंद्र वर्मा, संक्षिप्त शब्द सागर, मूल संपादित-नागरी प्रचारिणी काशी सभा, काशी, पृ. 468
2. बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर-सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-5, प्रकाशक- डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय एवं आधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ. 15
3. हर्ष मंदर, अनुभव, मार्च 1997, संपादक- मैथ्यू मालटम, मुंबई, पृ. 4
4. बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर-सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-5, प्रकाशक- डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय एवं आधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ. 4
5. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, संस्करण 2020, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
6. सूर्यनारायण रणसुभे, राष्ट्रीय सहारा, अंक 12 फरवरी 1994, दिल्ली संस्करण
7. शरण कुमार लिंबाले, हंस कथा मासिक, संपादक राजेन्द्र यादव, दिसंबर 1995
8. प्रो. मैनेजर पाण्डेय, युद्धरत आम आदमी, जुलाई - सितंबर 1995, दलित चेतना कविता विशेषांक 31, सं. रमणिका गुप्ता।
9. डॉ. सी. वी. भारती, हंस कथा मासिक, अगस्त, 1996, नई दिल्ली, पृ. 71
10. डॉ. कुसुम मेघवाल, हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 53
11. प्रह्लादचंद, सुरसंग से गुजरते हुए दूसरी दुनिया का यथार्थ, सं. रमणिका गुप्ता, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, पृ. 246
12. डॉ. कुवरपाल सिंह, दलित साहित्य बनाम दलित राजनीति, वर्तमान साहित्य, जनवरी 1999, पृ. 64
13. अर्चना वर्मा, इस खून की जाति क्या है।, हंस, मई 1999, पृ. 84
14. ओम प्रकाश वाल्मीकि, 'अम्मा' वसुध ज/मा. 1996
15. सुशीला टाकभौरे 'आत्मकथा' 'शिकंजे का दर्द' 2020, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 172
16. मधुकर सिंह, सुकनाचमा की औलाद, संस्करण 2014, साहित्य भारती, दिल्ली, पृ. 23
17. वही, पृ. 24
18. ललिता महली, दलित चेतना की साहित्यिक अवधारणा, स्मारिका, राँची 2012, पृ. 18 स्व


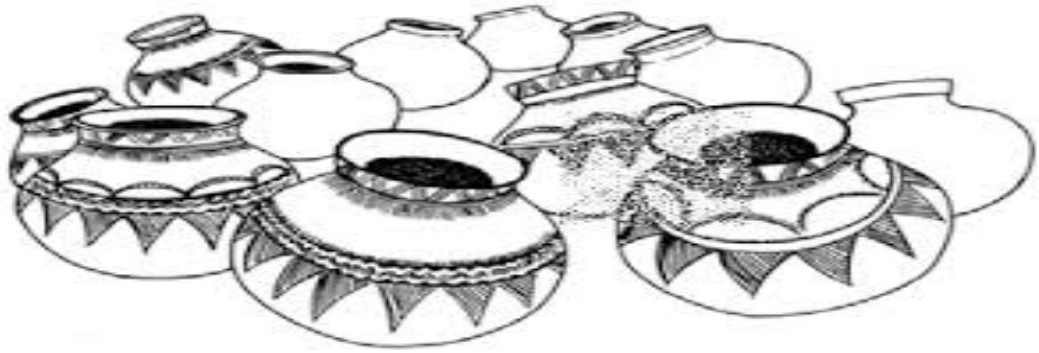

# मीरां का काव्य : मध्यकाल का स्त्री स्वर

**संजय कुमार पटेल**
**डॉ. जया द्विवेदी**

मीरांबाई पर अब तक हुए शोध सिर्फ शास्त्रीय दृष्टिकोण से हुए हैं। उनका मूल्यांकन परम्परावादी तरीके से किया गया है। उनके जीवन और काव्य को सामंतवादी मूल्यों के आधार पर रेखांकित किया गया है। उनके पदों को जनश्रुतियों और किंवदंतियों से जोड़कर देखा जाता रहा है। लेकिन आज की समकालीन हिन्दी आलोचना इन सब से ऊपर उठकर उनके स्त्रीवादी दृष्टिकोण को वैज्ञानिक और तार्किक धरातल पर विश्लेषित और विवेचित कर रही है। कुमकुम संगारी, माधव हाड़ा और हरिनारायण पुरोहित जैसे आलोचकों और संपादकों द्वारा इन जनश्रुतियों, अंधविश्वासों, किंवदंतियों और प्रक्षिप्तों से ऊपर उठकर मीरांबाई के जीवन और काव्य का मूल्यांकन किया जा रहा है। प्रस्तुत शोध आलेख में मीरांबाई के जीवन और काव्य के एक पक्ष पर पुनर्विचार किया गया है। वह पक्ष है- मीरांबाई की काव्यभाषा।

**बीज शब्द:** मीरांबाई, भक्तिकाल, स्त्री भाषा, माधव हाड़ा, कुमकुम संगारी, हरिनारायण पुरोहित, समकालीन हिन्दी आलोचना।

मीरां एक सांसारिक संत-भक्तिन रचनाकार थी। इससे स्पष्ट होता है कि मीरां का विद्रोह स्त्री अस्मिता के लिए था न कि कृष्ण भक्ति के लिए। फलतः उनकी कविता की भाषा में लोक बहुत सघन और व्यापक है। भक्तिकालीन कवियों में रूढ़ अभिव्यक्ति और भाषा रूपों की अकसर समानता मिल जाती है। क्योंकि देशाटन और पारस्परिक सम्पर्क और सानिध्य होता रहता था। मीरां की भाषा की खास बात यह है कि उनमें रूढ़ अभिव्यक्ति और भाषा रूपों का प्रयोग अन्य भक्तिकालीन कवियों की अपेक्षा कम है। माधव हाड़ा लिखते हैं- "मीरां की कविता में इन रूढ़ अभिव्यक्ति और भाषा रूपों का प्रयोग बहुत कम है।"[1] मीरां संसारी स्त्री थी। उसका समाज के साथ आम तरह का व्यवहार होता था। वह सामाजिक स्त्री थी। उसे समाज की समझ थी। उसका

जीवन राजा-प्रजा, माता-पिता, सास-ससुर, देवर-जेठ, ननद-भाभी, सखि-सहेली आदि रिश्तों के दायरे के भीतर था। इनके साथ वो सुख-दुख और राग-द्वेग के रिश्तों का निर्वहन कर चुकी थी। वह संसार से विरक्त स्त्री नहीं थी। इसीलिए उसकी कविता में भक्तिकाल के अन्य संत-भक्तों से अलग पारिवारिक, सामाजिक और प्रतिरोध की सांस्कृतिक भाषा की भरमार मिलती है।

मीरां स्वेच्छाचारी जीवन जीती हैं। वह अपनी स्वेच्छा से कोई समझौता नहीं करती हैं। इसके लिए उन्हें घर, परिवार, नात-रिश्तेदार और समाज किसी की भी कोई परवाह नहीं होती है। उस समय स्त्रियों को ऐसी छूट नहीं थी लेकिन मीरां ने भरपूर छूट समाज और अपने घर-परिवार से छीनकर ही साँस लेती हैं। घुटन भरे माहौल में उन्हें जीवन जीना पसंद नहीं चाहे वो उनका घर ही क्यों न हो। इसलिए मीरां की स्वेच्छा पर जब पानी फिरता दिखता है तो वह स्त्रियोचित व्यवहार में व्याकुल हो जाती है -

"तुम देख्यां बिन कल न परत है,
हियो फाटत मेरी छाती।"[2]

उनका मानना है कि मेरे कर्म में ही कुछ कमी रह गई होगी जो मुझे ऐसे जहालत भरे जीवन जीने पड़ रहे हैं। लेकिन यहाँ पर यह कहना उचित नहीं लगता क्योंकि यह सिर्फ़ मीरां का कर्म नहीं है बल्कि पूरे स्त्री समाज का कर्म है। उसने अपने कर्मों द्वारा जो बोया है वही उसे मिल रहा है। इतना ही नहीं इसके लिए समाज भी जिम्मेदार है। जिस समाज को स्त्री जाति ने बहुत कुछ दिया दूसरे शब्दों में कहें तो समाज की सृष्टि का कार्य किया वही समाज स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति समझने लगा। उन पर शासन करने लगा। लेकिन स्त्रियोचित भाव और मर्यादा मीरां की भाषा में दृष्टिगत हो ही जाते हैं। इसलिए थक-हार कर वह अपने कर्म को ही दोषी ठहराती हैं। स्वयं पर हो रहे अत्याचार के लिए दूसरों को दोषी नहीं ठहराती हैं -

"अपणा करम का ही खोट,
दोष कांई दीजे री आली।"[3]

अक्सर जब स्त्रियाँ अपने पतियों से रूठती हैं तो खाना-पीना, नहाना-धोना यहाँ तक कि हर कार्य छोड़ हड़ताल पर तब तक चली जाती हैं जब तक कि उन्हें कोई मनाये न। हिन्दी साहित्य में इसे मान कहते हैं। यही गुण मीरां में भी है लेकिन पृष्ठभूमि अलग है। यहाँ मीरां पति से नहीं पुरुष समाज से क्रोधित है। पुरुष की स्त्रियों के प्रति हो रही/ बर्बरता से क्रोधित हैं। उनसे अकेले लड़ते-लड़ते चारों ओर से खुद पर आ रहे कटाक्ष से पीडित हो जाती हैं। कुछ क्षण के लिए हताशा और निराशा हावी हो जाती है तब भूख-प्यास सब मिट जाती है। ऐसा नहीं है कि सचमुच भूख-प्यास मिट जाती है बल्कि यह स्त्री स्वभाव है जब वह अधिक चिंतित होती है तब ऐसी स्थिति से गुजरती है। ऐसी स्थिति में वह असहाय महसूस करती है। इस हालत पर मैथिलीशरण गुप्त ने एक कविता लिखी है- "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आंचल में है दूध और आंखों में है पानी।" यह दर्द जब स्त्री में उठता है तो वह बिल्कुल लाचार हो जाती है। बेचारी मीरां सामाजिक व्यवस्थाओं से जब त्रस्त और असहाय महसूस करती है तो अन्यमनस्क होकर कहती है-

"दिवस न भूखरैन नहिं निद्रा,
तुमबिन कछु न सुहाई।"[4]

क्रोधित होना स्त्री का बहुत ही नैसर्गिक भाव है लेकिन यह नैसर्गिकता ज्यादा देर तक उसके चेहरे पर टिकती नहीं। मीरां एक ऐसी स्त्री हैं जो पूरे पुरुष समाज से अपने तिरस्कार और अपमान भरे जीवन से मुक्ति के लिए क्रोधित हैं। न सिर्फ़ क्रोधित हैं बल्कि संघर्षरत भी। वह सामान्य स्त्रियों की भाँति सुबह क्रोधित होकर शाम को प्रेम में मग्न हो जानेवाली स्त्री नहीं हैं। वह क्रोधित होती हैं तो अपने नैतिक तर्क और अधिकार के बल पर। और इस प्रकार उनका क्रोधित होना जायज़ लगता है। यह क्रोध व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं है पूरे स्त्री समाज के अधिकार और सम्मान के लिए है इसीलिये वह सत्ता और समाज पर क्रोधित होती हैं। वह अपनी माँगो से कोई

समझौता नहीं करती । लोगों के व्यंग्य और कटाक्ष को सहर्ष उसी भाव में जवाब देती हैं-

"मीरां कहै मैं भयी रावरी,
कहो तो बजाऊँ ढोल ।"[5]

'मीरां की भाषा और उसका खास मुहावरा राजस्थान के मेवाड़-मारवाड़ में ही इस्तेमाल होता है । वह अपने स्त्रियोचित और प्रतिदिन के आचार-व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली सामान्य वस्तुओं को ही सादृश्य और बिम्ब-प्रतीकों के रूप में चुनती है । ये प्रतीक कोई पुरुष समाज के या फिर पुरुषवाची नहीं हैं बल्कि पूरी स्त्री जाति के हाव-भाव, रहन-सहन, वेश-भूषा पर आधारित हैं । पितृसत्ता से सम्बन्धित कोई प्रतीक स्वीकार्य नहीं है -

"चालो आगम के देसकाल देखत डरे ।
भरा प्रेम को हौज, हंस केला करै ।।
ओढण लज्जा चीर, धीरज को घाघरो ।
छिमता कांकण हाथ, सुमत का मूंदरो ।।
कांचो है विस्वास चूड़ो चित उजलो ।
दिल दुलड़ी दरियाव सांच को दोवड़ो ।।
दांतां अमृत मेख-दया को बोलणों ।
उबटण गुरू को ग्यान, ध्यान को धोवणों ।।
कान अखोटा ग्यान, जुगत को झूटणों ।
बेसरि हरि को नाम, काजल है धरम को ।।
जेहरि सील संतोष, विरत को घूंघरो ।
बिंदली गज और हार, तिलक गुरुज्ञान को ।।
सजि सोलह सिणगार, पहिरि सोनै राखड़ी ।
सांवलिया सूं प्रीत, प्रभुजी पधारिया
गावे मीरांबाई दासी कर राखिया ।।"[6]

उपर्युक्त पद में सादृश्य और बिम्ब प्रतीकों के रूप में राजस्थानी मेवाड़-मारवाड़ के स्थानीय स्त्रियों के प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तुओं को प्रयोग किया गया है जैसे- कांकण (कंगन), मूंदरो (अंगूठी), घाघरो (लहँगा), दुलड़ी (दो लड़ी माला), दोवड़ो (आभूषण विशेष), अखोटा (कान का आभूषण), झूटसो (झुमका), बेसरि (नथ), चूड़ो (हाथी दांत की चूडियाँ), राखड़ी (सिर का आभूषण) आदि ।

मीरां की भाषा पर माधव हाड़ा लिखते है- "मीरां की कविता की भाषा सन्त-भक्तों से अलग, स्त्रियों की खास भाषा है । मीरां अपने इन समकालीन पुरुष और महिला सन्त-भक्तों से अलग है । उसकी भाषा उसके स्त्री होने की सभी अभिलक्षणाएँ हैं ।"[7] अनामिका का कहना है कि मीरां की भाषा बोलने वाली स्त्रियों की भाषा की तरह 'चटक, पुष्ट, जीवन्त और धारदार' है । इस प्रकार मीरां की भाषा में स्त्री होने का दैन्य, असहायता, शिकायतें, उलाहने, ईर्ष्या, सुख-दुःख, द्वन्द्व और चिन्ता सब आते हैं । मीरां का आग्रह और निवेदन आद्यंत स्त्रियोचित है ।

स्त्रियों को ऐसा वातावरण दे दिया गया था कि वह सिर्फ़ और सिर्फ़ विनती और प्रशंसा के शब्द जानती थी । कुछ बात मनवानी हो तो विनती और प्रशंसा के द्वारा मनवाएँ । इसलिए स्त्री होने के कारण मीरांबाई के लगभग हर दूसरे-तीसरे पद में अभ्यर्थना और अरज निकली है-

"अरज करूँ मथुरा मत जावो, मानोजी म्हारो कह्यो ।"[8]

अनामिका जी का कहना है कि मीरां की शिकायतें स्त्रियोचित ईर्ष्यामय हैं । यहाँ मुझे यह बात खटकती है कि ईर्ष्या सामान्य स्त्रियों का स्वभाव हो सकता है लेकिन मीरां का स्वभाव ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह ईर्ष्यावश घर और समाज नहीं छोड़ी थीं बल्कि स्त्री के स्वाभिमान और आत्मसम्मान के लिए छोड़ी थीं और पुरुष सत्तात्मक समाज में मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम स्थापित करने के लिए छोड़ी थीं । कभी कभी ऐसी ईर्ष्या गुस्से में भी होने लगती है और उससे किसी व्यक्ति के चरित्र का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है । खासतौर से मीरांबाई का तो बिल्कुल नहीं क्योंकि समाज उन्हें यह अवसर दिया है । नहीं तो वह यह नहीं कहती कि-

"अन्सुवनजल सींच सींच प्रेम बेलि बोई ।"[9]

जब स्त्रियों की बाते नहीं मानी जाती हैं तो वह खुद को जितना हो सकता है उतना दुख-दर्द और पीडा देती हैं। इतना ही नहीं ऐसी वस्तुओं को नुकसान पहुँचाती हैं जो सामने वाले के खुशी की वस्तु होती है। हालाँकि ऐसा नहीं है कि उस वस्तु से उन्हें खुशी और सुखद अनुभूति नहीं होती लेकिन फ़िर भी वो सिर्फ़ इन्ही माध्यम से अक्सर अपनी बात मनवाती हैं। मीरां के काव्य में यह जगह-जगह देखने को मिलता है। मीरां को पुरुष समाज ने बहुत सताया है। अकेली वह सभी का सामना आजीवन की लेकिन अकेलेपन ने उन्हें तोड़ दिया। इसलिए स्त्रियों के जैसा रोना, कलपना और विचलित होना उनके काव्य में दृष्टिगत होता है-

"फारूँगी चीर करूँ गल कथा,
रहूँगी बैरागण होई री।"[10]

जैसे स्त्रियाँ अपने पति के घर वापस लौटने को छत पर चढ़कर पथ देखती रहती हैं वैसे ही मीरां भी अपने प्रियतम के पथ को ताक रही हैं। अब सवाल यहाँ उठना लाजिमी है कि मीरां किस पतिका इंतजार कर रही हैं? वो तो बहुत पहले मृत हो चुके थे और वर्तमान में कोई उनका पति नहीं है। कई पदों में उन्होंने कृष्ण को अपना पति चुना है। सामंती समाज उन्हें इतना प्रताड़ित कर दिया है कि उन्हें अपने पतिसे ही अब कोई आशा की किरण दिखाई देती है। अक्सर जब घर में स्त्रियों को कोई प्रताड़ित करता है तो उन्हें न्याय की उम्मीद अपने पति से होती है। प्रताड़ना के उस दिन इंतज़ार की घड़ी बहुत अधीर करती रहती है। मीरां के यहाँ पति के आगमन की अधीरता बारबार छत पर जाकर पति की राह देखने से स्पष्ट हो रही है। यह भाषा अपनी भाव भंगिमाओं की अभिव्यक्ति से स्त्रियों केदुख-दर्द को आसानी से पाठक तक प्रेषित करता है-

"ऊँची चढ़-चढ़ पन्थ निहारूँ,
रोय रोय अँखियाँ राती।"[11]

रोना और आँसू गिरना, गिरते हुए आँसुओं को पोंछना यह मनुष्य की सामान्य क्रिया है लेकिन स्त्रियों का रोना, आँसू गिरना और पोंछना पुरुषों से भिन्न होता है। यह भिन्नता कैसे होती है मीरां जी से अच्छा कोई नहीं जानता। स्त्री अपने आँसू आंचल से पोंछती है जबकि पुरुष के पास आंचल नहीं होता और पुरुष जल्दी रोता भी नहीं। स्त्रियाँ जब रोती है तो अपने आँचल से आंसू पोंछती हैं- वैसे ही मीरां भी पोंछती हैं-

"ले अँचरामुख अँसुवन पूंछत,
उघरे गात सही।"[12]

स्त्रियाँ शकुन और अपशकुन का बहुत ख्याल रखती हैं। इसका मूल कारण यह है कि घर की आंतरिक जिम्मेदारी का जिम्माजो उन पर होता है । अपने पति, माता-पिता और घर परिवार से दूर रहने के कारण उनके कुशल-क्षेम की चिन्ता उनको बराबर रहती है। ऐसे गुण मीरां के यहाँ देखने को मिलते हैं। शकुन के लिए सोनचिड़िया से उड़ जाने का आग्रह भी करती हैं-

"उड़ जावो म्हारी सोन चड़ी।"[13]

आज तक पुरुषों का प्रिय अप्रिय कोई विशेष समझ में नहीं आया। उनके लिए सामने से सभी प्रिय हैं और पीठ पीछे अप्रिय लेकिन स्त्रियों का प्रिय और अप्रिय के मामले में स्पष्ट नजरिया है। यह नज़रिया न सिर्फ़ अपने पतिया प्रेमी के के मामले में है बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र- रहन- सहन, खान-पान, वेश-भूषा, सजावट, इत्यादि के क्षेत्र में बहुत ही चाव से सक्रिय रहता है। जब प्रिय की बात आती है तो उनकी खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहता। उनके लिए यह किसी उत्सव से कम नहीं होता क्योंकि यह प्रिय ही है जो उनकी हर समस्या का समाधान और उनके दुखदर्द, पीडा, अपमान, अत्याचार, शोषण, सामंती बर्बरता इत्यादि को समझता है। ऐसी स्थिति में स्त्रियों को अपने प्रिय के आगमन पर आनंद, उमंग और सुख के धाम की अनुभूति से हृदय आह्लादित हो जाता है -

"जोसीड़ा ने लाख बधाई रे
अब घर आये श्याम
आज आनन्द उमंगि भयो है

जीव लहै सुख धाम।"[14]

जब स्त्रियाँ खुशी रहती हैं तोनाचना, गाना, उत्सव मनाना उनके स्वाभाविक गुणों स्वतः प्रस्फुटित होने लगते हैं। गीत गाना भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न हिस्सा बन चुका है। प्रत्येक खुशी के माहौल चाहे वो धार्मिक हों या फिर व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सभी में गीत गाना एक अनिवार्य संस्कृति है और इस संस्कृति का उत्तरदायित्व महिलाओं पर ही होता है। महिलाए इसको बखूबी निभाती भी हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि ये गायन अक्सर सामूहिक होता है। सावन का गीत बहुत ही प्रसिद्ध है। मीरां भी सामूहिक मंगलगीत गाती हैं। यह मंगल लोक से जुड़ा हुआ होता है। लोक के पक्ष को उदघाटित करता है। लोक के मिथक, प्रतीक और बिंब इससे जुड़े हुए होते हैं-

"पांच सखि इकट्ठी भई
मिलि मंगल गावै हो"[15]

आरती करना स्त्रियों का कार्य है। वो चाहे विवाह का उत्सव हो या फ़िर अन्य उत्सव। हाँ इतना जरूर है कि धार्मिक कार्य में पुरुष भी आरती करता है लेकिन यह अक्सर व्यक्तिगत रूप में होता है। जबकि जीवन के अन्य अवसर पर आरती करना स्त्रियों के हिस्से में डाल दिया गया है। यह परम्परा आज भी चली आ रही है। समाज की परंपरा और उस प्रत्येक दायरे को सहर्ष स्वीकार करती हैं जो उनके स्वाभिमान और आत्मसम्मान को ठेस नहीं पहुँचाता, स्त्री की अस्मिता को निचोड़ता नहीं, स्त्रीत्व के दायरे को सामन्तवादी जकड़नों से जकड़ता नहीं। ऐसे अवसर पर उनका स्त्रीत्व उदघाटित हो जाता है। मीरां की कविता में यह कृष्ण के लिए आया है। वह आरती की थाली सजाती हैं और उन पर रत्नों का न्योछावर भी करती हैं-

"रतन करूँ नेछावरी ले आरति साजूँ हो।"[16]

मीरां मध्यकालीन सामंती व्यवस्था और पित्तृसत्तात्मक विधि-निषेधों के विरुद्ध आचरण करती रहीं। उनका यह विरोध भक्ति के लिए नहीं, बल्कि स्त्री अस्मिता के लिए था। भक्ति तो एक माध्यम थी लेकिन भक्ति सर्वोपरि हो गई है। मीरां के स्त्री अस्मिता संबंधी कार्य किंवदंतियों के आगे दबे रह गए। माधव हाड़ा लिखते हैं- "मीरां की कविता में उसके स्त्री अस्तित्व के अनुभव और संघर्ष के सभी रूप और लक्षण मौजूद हैं, जो उसकी अब तक निर्मित और प्रचारित सन्त-भक्त पहचान पर भारी पड़ते हैं।"[17] उनका यह प्रतिरोधी स्वर उनके काव्य की भाषा का एक नया कलेवर तैयार करता है। स्त्रियोचित भाषा के आधार पर मीरां के काव्य की भाषा को आँकना उनके साथ अन्याय नहीं होगा बल्कि मीरां के व्यक्तित्व के आधार पर उनके काव्य की भाषा को देखना चाहिए जिसमें न सिर्फ़ स्त्रियोचित भाषा-व्यवहार है बल्कि सामन्तवादी और पितृसत्तात्मक भाषा-व्यवहार के प्रतिरोध में निर्भीक और साहसी भाषा भी है। सच को सच और गलत को गलत कहने में जिस भाषा का प्रयोग होना चाहिए उस भाषा का भी प्रयोग मीरां ने अपने काव्य में बेधड़क प्रयोग किया है।

**निष्कर्ष-**

मीरांबाई एक आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी, साहसी, स्वेच्छाचारी, संत-भक्तिन कवयित्री थीं। सामन्तवादी शासन के समय 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता' की कहावत को मीरां ने तोड़ दिया है। मीरां की काव्य भाषा स्त्रियोचित हाव-भाव और प्रतिरोधी तेवर से मिश्रित है। हालाँकि मीरांबाई की कविता में स्त्रियोचित भाषा का प्रयोग स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। स्वतंत्र व्यक्तित्व की मीरां के काव्य में व्याकुलता, दुर्भाग्य, अन्यमनस्कता, अधैर्य, रोना-कल्पना, विचलित होना आदि स्त्रियोचित तरीके उपलब्ध हैं। तरीके स्त्रियोचित जरूर हैं लेकिन उद्देश्य पुरुष की सोच और समझ से बड़े हैं। उनकी यह भाषा स्त्रियों को मनुष्य के रूप में स्वाभिमान और आत्मसम्मान के साथ जीवन जीने की वकालती भाषा है। ऐसे स्त्रियोचित भाषिक शब्द हिन्दी साहित्य के इतिहास में बेजोड़ हैं।

**सन्दर्भ सूची :**

1. माधव हाड़ा, पचरंग चोला पहर सखी री, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 130
2. हरिनारायण पुरोहित (सं.), फतह सिंह (प्रधान सम्पादक), मीरां बृहत्पदावली प्रथम भाग, निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान, 1968, पद संख्या 448, पृ. 216
3. वही, पद- 06, पृ. 03,
4. वही, पद- 69, पृ. 38,
5. वही, पद- 37, पृ. 18
6. वही, पद- 137, पृ. 67
7. माधव हाड़ा, पचरंग चोला पहर सखी री, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 132
8. हरिनारायण पुरोहित (सं.), फतह सिंह (प्रधान सम्पादक), मीरां बृहत्पदावली प्रथम भाग, निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान, 1968, पद- 342, पृ. 161
9. वही, पद- 443, पृ. 213
10. वही, पद- 462, पृ. 223
11. वही, पद- 402, पृ. 191
12. वही, पद- 330, पृ. 156
13. वही, पद- 45, पृ. 23
14. वही, पद- 178, पृ. 86
15. वही, पद- 595, पृ. 298
16. वही, पद- 595, पृ. 298
17. माधव हाड़ा, पचरंग चोला पहर सखी री, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 134 स्व

## *लघुकथा*

# जाँच

**डॉ. सुनील कुमार 'सुमन'**

-सर, रफ़ीक नगर में रेल दुर्घटना हो गई है। सौ से ज़्यादा लोग मारे गये हैं, तीन सौ से ऊपर घायल हैं।

-ओह! यह तो बड़ी दुखद घटना है। इसकी तत्परता से जाँच होगी। कल शाम तक जाँच आयोग का गठन कर दिया जाएगा।

-सर, देश में यह अब तक का सबसे बड़ा घोटाला है। क्या होगा अब?

-होगा क्या, हमने इसकी गंभीरतापूर्वक जाँच करने का आदेश दे दिया है।

-सर, परसों घटित दलित हत्याकांड पर बड़ा बावेला मच रहा है। प्रेस वालों के बार-बार फोन आ रहे हैं।

-उन्हें बोल दो, मित्तल आयोग इसकी जाँच कर रहा है। रिपोर्ट आने तक इंतज़ार करें। अभी हम कुछ नहीं कर सकते।

-सर, विपक्षी पार्टी वाले हो-हल्ला मचा रहे हैं कि अब तक जितने भी 'जाँच आयोग' बनाए गए, किसी की रिपोर्ट नहीं आयी। अब क्या किया जाए?

-हाँ, मामला बहुत गम्भीर और चिन्ताजनक है। जाँच रिपोर्ट अब तक क्यों नहीं आई? इसकी भी जाँच होनी चाहिए। हम शीघ्र ही इसके लिए एक 'जाँच आयोग' का गठन करेंगे! स्व

# शिकंजे का दर्द :
# दलित स्त्री की बड़ी संभावना

डा. अनिल कुमार

साहित्य, समाज में मानव-जीवन की अनुभूति की नवीन भाव-भंगिमा की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। साहित्य में वैयक्तिक जीवन के सामाजिक-धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्ष संघर्ष एवं द्वंद्व अभिव्यक्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि साहित्य समाज का दर्पण है। नहीं, साहित्य केवल समाज का दर्पण ही नहीं बल्कि मशाल (या दीपक) के समान समाज का पथ-प्रदर्शक भी है। दलित साहित्य ने आज यह बात पूर्णतः प्रमाणित कर दी है। दलित- दलित, स्त्री एवं आदिवासी साहित्य ने समाज में सत्ताधारी या ब्राह्मणवादी वर्ग की ज्यादतियों को उजागर किया। इस साहित्य ने भारतीय समाज के वास्तविक यथार्थ, जो अभी तक साहित्य से नदारद था, को साहित्य एवं चिंतन के केंद्र में स्थापित कर मानवाधिकारों की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

भारतीय समाज में स्त्री की दशा में क्रमशः उत्थान और पतन देखने को मिलता है। वैदिक काल या मानव समाज के विकास के आरंभिक काल में स्त्री और पुरुष में अधिकारों की दृष्टि से कोई असमानता नहीं थी। बल्कि स्त्री ही परिवार की मुखिया थी, लेकिन धीरे-धीरे यहाँ स्त्री को एक ओर 'देवी' और 'माता' कहकर पूजनीय- 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवता'- की उद्घोषणा के साथ ही 'स्त्री को कभी भी स्वतंत्र न रहने देने की हिदायत देते हुये उसे सदैव पिता, पति और पुत्र के अधीन' रहने का भी निर्देश दिया गया है।

स्त्री, सवर्ण हो या फिर दलित, भारतीय समाज व्यवस्था में उसे अधिकारहीन, शोषित, पीड़ित, उपेक्षित दशा में रखा गया है। समाज, धर्म और साहित्य में स्त्री को पुरुष-दृष्टि से देखा और बताया गया। इसमें भी दलित स्त्री पर तो दोहरा-तिहरा अन्याय हुआ है। पहले तो लिंग आधारित स्त्री होने के कारण, दूसरे दलित होने के कारण और तीसरे उसमें भी धनहींन होने के कारण- अनेक दलित-स्त्री का शोषण इस विश्वगुरु कहलाने वाले भारतीय समाज में धर्म, संस्कृति और मर्यादाओं के नाम पर होता रहा और

आज भी बदस्तूर जारी है। कुल मिलाकर स्त्री होने का मतलब है अपनी हर बात के लिए संघर्ष करना। संघर्ष और स्त्री को यदि पर्याय कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मानवाधिकारों की दृष्टि से स्त्री का इंसान होना अभी तक रूढ़िगत पुरुष मानसिकता द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है।

सामान्यतः मानवाधिकारों से आशय उन आधारभूत अधिकारों से है, जो प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् सम्पूर्ण मानव जाति या समाज के विकास के लिए अत्यावश्यक हैं। ये अधिकार मानव की गरिमा से संबंधित हैं। समाज के किसी व्यक्ति या वर्ग से यदि उसके मानवाधिकार छीन लिये जायें तो उस समाज या वर्ग की स्थिति धीरे-धीरे गुलामों की सी हो जाती है। और ऐसे समाज को पूर्णतः सभ्य समाज नहीं कहा जा सकता। कम से कम समाज के उस वर्ग को विकसित समाज की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता; जैसे कि- दलित, स्त्री और आदिवासी समुदाय की सामाजिक-आर्थिक व राजनैतिक पिछड़ेपन की स्थिति को देखकर भारतीय समाज के विषय में कहा जा सकता है।

**साहित्य चाहे वह दलितवादी, स्त्रीवादी या फिर आदिवासी कोई भी हो, समग्रतः मानवाधिकारों की ही कवायद करता है। जिस साहित्य में मानवाधिकारों की स्थापना का प्रयास नहीं है, वह और चाहे जो कुछ हो लेकिन साहित्य कतई नहीं है।**

मानवाधिकारों की आवश्यकता और महत्त्व के विषय में डॉ. निशांत सिंह ने लिखा है- "मानवाधिकार सभ्य समाज की आधारशिला है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के मजबूत होने के साथ-साथ इन अधिकारों को अधिक सम्मान देना अनिवार्य हो गया है। निम्नलिखित कारणों से, मानवाधिकारों की रक्षा और प्रवर्तन करना जरूरी है ताकि मानव की गरिमा को कायम रखा जा सके - प्रथम, मानवाधिकार व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त होते हैं और उसके सर्वांगीण विकास के लिए इनकी रक्षा की जानी आवश्यक है। इन्हें मानवाधिकार इसीलिए कहा जाता है क्योंकि ये मानव के जन्मसिद्ध अधिकार हैं और इन्हें मानव से अलग कर देने पर वह मानव ही नहीं रहेगा। द्वितीय, व्यक्ति का स्थान अन्य सब संस्थानों से ऊँचा है इसलिए उसके अधिकारों की रक्षा को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। समाज, सरकार व अन्य संगठन तभी सफल माने जा सकते हैं जब वे व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा कर पायें। तृतीय, मानवाधिकारों की रक्षा इसलिए भी जरूरी है कि इनकी रक्षा से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा जुड़ी है। नाजी जर्मनी, फ्रांस, इटली और अनेक कम्युनिस्ट सरकारों ने व्यक्ति के अधिकारों की अवहेलना की फलतः सरकारें नष्ट हो गईं। चतुर्थ, कल्याणकारी राज्य सिद्धांत के अनुसार राज्य का पहला कर्त्तव्य है जनता का कल्याण और सुख की व्यवस्था करना। इसकी प्राप्ति के लिए मानवाधिकारों की रक्षा करना जरूरी है।"[1]

साहित्य चाहे वह दलितवादी, स्त्रीवादी या फिर आदिवासी कोई भी हो, समग्रतः मानवाधिकारों की ही कवायद करता है। जिस साहित्य में मानवाधिकारों की स्थापना का प्रयास नहीं है, वह और चाहे जो कुछ हो लेकिन साहित्य कतई नहीं है। आधुनिक काल में अनेक साहित्य धाराओं के साथ अनेक साहित्य विधाओं का विकास हुआ है। दलित साहित्य की 'आत्मकथा' विधा ने दलित वर्ग की दशा, दिशा और मानवाधिकारों की दृष्टि से सामाजिक चिंतन को एक नवीन आयाम दिया है। चूंकि दलित के समान समाज में स्त्री पर भी अनेक प्रतिबंध सदियों से रहे हैं। अतः आधुनिक काल में जीवन की विसंगतियों और उसमें स्त्रियों की दयनीयता के कारकों को स्त्री आत्मकथाकारों ने बखूबी अभिव्यक्ति प्रदान की है। सभी स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री के लिए मानवाधिकारों की कवायद करती हैं - स्त्री को भी मनुष्य की तरह माना जाए। इससे स्त्री विमर्श में एक स्तर पर चिंतन है, जिसे वैचारिक या सैद्धांतिक लेखन कह सकते हैं तो दूसरे स्तर पर नारी मानवाधिकारों का सारा

प्रसंग है- नारी संगठन या नारीवादी आंदोलन। तीसरे स्तर पर यह वह लेखन है, जहाँ रचनाकार क्या सोचता है, क्या करता है? किस तरह भाषा से अपनी बात कहता है; का संदर्भ है। रमणिका गुप्ता के शब्दों में कहें तो- "औरत का लेखक होना, औरत होकर जीना; त्रासदी से गुजरना भी है और लेखक होना उस त्रासदी को दर्ज करते हुए - उजागर करना और उसके बरक्स त्रासदी-रहित जीवन जीने का एक सपना भी है। एक औरत जब लेखन के क्षेत्र में उतरती है, तो उसे न सिर्फ दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है बल्कि कई मोर्चों पर संघर्ष करना होता है।"[2]

भारतीय समाज में प्राचीन काल से स्त्री की दशा बड़ी दयनीय रही है। इस संबंध में 'रमाबाई' ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'स्त्री-पुरुष तुलना' में हिंदू पुरुष प्रधान समाज के मूल्यों पर कठोर वैचारिक आक्रमण किया। वे समाज में प्रचलित स्त्री-धर्म को तिलांजलि देकर जोरदार ढंग से भारतीय नारी को गौरव व सम्मानपूर्ण जीवन की दिशा दिखाते हुए कहती हैं- "स्त्री धर्म क्या है? एक ही पति के प्रति अंधी व अनंत वफादारी, उसकी इच्छा के अनुसार ही सदा व्यवहार हेतु तत्पर रहना... वह पति चाहे उसे (पत्नी को) पीटे, गालियाँ दे, वेश्या से भोग-विलास करे, शराब पीये, घर-बार लुटा दे, रिश्वत ले परंतु जब वह घर पहुँचे तो पत्नी उसकी देवता की तरह पूजा करे, जैसे कृष्ण ग्वालिनों से माखन चुरा कर लौटा हो। इस प्रकार के पतिव्रत-धर्म को खत्म कर देने के पक्ष में और भी अनेक तर्क अंकित किये जा सकते हैं।" पितृ-वंश प्रणाली के इस स्तंभ (पतिव्रता) के दोहरे मापदंड पर वे चोट करती हुई दृढ़ता से इस क्रम में लिखती हैं- "सावित्री एक औरत ही थी, जो यमराज की अदालत में अपने पति का जीवन बचाने हेतु पहुँच गई थी। चलिये, यह तो छोड़िये, क्या आप किसी मर्द का नाम ले सकते हैं जो कभी इस मार्ग पर चला हो? यदि पति की मृत्यु के पश्चात् औरत अपनी पवित्रता व अस्तित्व गँवा बैठती है तथा उसको एक दोषी की भाँति अंधेरे में ही अपना शेष जीवन व्यतीत करना पड़ता है तो क्या पुरुष भी अपनी दाढ़ी कटवाते हैं तथा एक संन्यासी की भाँति शेष जीवन गुजारते हैं? यदि किसी देवता ने मर्दों को पत्नी की मृत्यु के दस दिनों के उपरांत ही दूसरी औरत घर ले आने का प्रमाणपत्र जारी किया है तो मुझे दिखाया जाए।"[3]

सामान्यतः भारतीय सामाजिक संरचना में लिंग के कारण-बेटे-बेटी की परवरिश में दोहरे मानदंड अपनाये जाते हैं। समाज में पारिवारिक परम्परा, मान-मर्यादा, इज्जत और संस्कृति के नाम पर नारी शोषण को एक तरह से सामाजिक मान्यता-सी प्राप्त है। यौन-शोषण के मूल में भी पुरुष मानसिकता से उपजी उद्दंडता है। दहेज, बाल-विवाह, बलात्कार और वेश्यावृत्ति आदि समस्याएँ लिंग-भेद के कारण ही समाज में व्याप्त हैं और एक तरह से इन्हें समाज एवं धर्म से स्वीकार्यता प्राप्त है। वास्तव में भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा- स्त्री उच्च जाति की हो या निम्न जाति की, वे औरत होने के नाते ही बुरी होती हैं। बहुत बुरी, झूठ से भी बढ़कर अपवित्र। ऐसी ही धारणा के चलते घर में पुत्री या कन्या जन्म को ही अशुभ माना जाने लगा। इसके विपरीत, घर में पुत्र के जन्म की मनौतियाँ माँगी जाती हैं। पुत्र के जन्म लेने पर परिवारीजन फूले नहीं समाते। खुशी में मिठाइयाँ बँटवाते हैं। औरतों के मानवाधिकारों के हनन का सबसे बड़ा उदाहरण घर-परिवार में यह लिंग आधारित भेदभाव ही है।

समाज में स्त्री हमेशा से दोयम दर्जे की नागरिक रही है। सिमोन द बोउवार की कृति 'द सेकेण्ड सेक्स' के अध्याय 'द मिथ ऑफ वीमेन' में दिखाया गया है कि पुरुष लेखकों ने कैसे औरतों का मिथ बनाया है। उनके चिंतन का निष्कर्ष है कि- 'स्त्री पैदा नहीं होती, बनायी जाती है।'

21वीं सदी का डेढ़ दशक बीत चुका है। इस दौरान हिन्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण स्त्री आत्मकथाएँ पाठक वर्ग के सामने आई हैं। इनमें कुछ मुख्य है- कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै', तथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', प्रभा खेतान की

'अन्या से अनन्या', चंद्रकिरण सोनरैक्सा की 'पिंजरे की मैना', रमणिका गुप्ता की 'हादसे', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' निर्मला जैन की 'जमाने में हम', डॉ. शकुन्तला कालरा की 'मेरा बचपन उड़ान की चाह में' आदि मुख्य हैं।

उपर्युक्त सभी आत्मकथाओं में भारतीय समाज में स्त्री होने के कारण क्या-क्या इन्होंने सहा है, इसका वर्णन है। साथ ही इन स्त्री आत्मकथाकारों ने अपने और अपने घर-परिवार की स्त्री दशाओं के माध्यम से समाज को एक दिशा देने की कोशिश की है, जिससे सभी स्त्रियों को उनके मानवीय अधिकार मिल सकें। फिर भी, इनमें दलित स्त्री विमर्शकार सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा- 'शिकंजें का दर्द' समग्रतः भारतीय समाज में दलित स्त्री की दशा, दिशा और दलित स्त्री के मानवाधिकारों पर बड़ी सशक्त टिप्पणी है।

सामान्यतः 'शिकंजे' अर्थ है- फंदा, चंगुल, जिसमें फंसकर कोई भी अपने को बेबस महसूस करे। भारतीय समाज के तमाम नियम-कानून, रस्में आदि दलितों और स्त्रियों को नियंत्रित करने के साधन ही हैं। इस संबंध में टाकभौरे जी अपनी आत्मकथा के शीर्षक का स्पष्टीकरण करते हुए लिखती हैं- "शिकंजा यानी पंजा, जिसकी जकड़न में रहकर कुछ कर पाना कठिन हो, शिकंजा यानी कठघरा जिसमें कैद होकर उसके बाहर जाना कठिन हो। शब्दकोश में दिये अर्थ के अनुसार शिकंजे का अर्थ दबाने, कसने का यंत्र है। शिकंजे का अर्थ एक प्रकार का प्राचीन यंत्र है, जिसमें अपराधी की टाँग कस दी जाती है। शिकंजा वह यंत्र है जिसमें धुनकने के पहले रूई को कसा जाता है। शिकंजे का अर्थ कोल्हू भी है।"[4]

यहाँ पर मानवाधिकारों की दृष्टि से दलित और स्त्री के लिये समाज की सारी रीति-नीति व्यवस्था में एक 'शिकंजे' की ही भाँति सिद्ध होती हैं। जिसके परिणामस्वरूप अनेक प्रयासों के बावजूद इनका- दलितों और स्त्रियों का आशानुरूप विकास नहीं हो रहा है। क्योंकि जाति और धर्म की रूढ़ियों ने दलितों एवं स्त्रियों को मानवाधिकार से हीन बनाकर समाज में केवल सवर्णों के उपयोग के साधन या वस्तु मात्र बनाकर रखा है। आत्मकथाकार के ही शब्दों में- "जिस तरह किसी ताकतवर को शिकंजे में जकड़कर उसकी पूरी ताकत को नगण्य बना दिया जाता है, उसी तरह मुझे भी सामाजिक जीवन की मनुवादी विषमता ने, वर्णवादी जातिवादी समाज-व्यवस्था ने शिकंजे में जकड़कर रखा, जिसका परिणाम पीड़ा-दर्द छटपटाहट के सिवा कुछ नहीं है।"[5] समाज में दलित स्त्री की दशा और दिशा पर टिप्पणी करते हुए आत्मकथाकार अपनी आत्मकथा में कहती हैं– "'शिकंजे का दर्द' में संताप है दलित होने का, स्त्री होने का। इसमें शोषित, पीड़ित, अपमानित, अभावग्रस्त दलित जीवन की व्यथा है। स्त्री होना ही जैसे व्यथा की बात है। चाहे हमारा देश हो या विश्व के अन्य देश, हर जगह शोषण उत्पीड़न का शिकार स्त्री ही रही है। जिस देश में वर्णभेद, जातिभेद की कलुषित परम्पराएँ हैं वहाँ दलित स्त्री शोषण की व्यथा और भी गहरी हो जाती हैं। सदियों से तिरस्कृत और अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहने के लिये मजबूर किये गये दलित जीवन की व्यथा-कथा का दर्द- 'शिकंजे का दर्द' में समाहित है। 'शिकंजे का दर्द' लिखने का उद्देश्य दर्द देने वाले शिकंजे को तोड़ने का प्रयास है।"[6]

जब दलित स्त्री अपनी व्यथा कथा लिखती है तब आत्म स्वीकार्यता की चुनौतियाँ और खतरे कई गुना बढ़ जाते हैं। सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा लिखने के उद्देश्य को स्पष्ट किया है – "आत्मकथा लिखने का मेरा उद्देश्य समाज को उसकी सच्चाई बताना है। लोग इस सच्चाई को स्वीकार करें, इन तथ्यों को समझें, मंथन करें और भविष्य के समतावादी भारतीय समाज के निर्माण के लिए कदम उठाएँ। अकसर सवर्ण लोग दलित आत्मकथा पढ़कर दलितों के प्रति दया और सहानुभूति का भाव जताते हैं। यह उनकी समझ का फेर है। असल में उन्हें मनुवादी-वर्णवादी, जातिवादी अन्याय-शोषण की

दुष्ट नीतियों पर लज्जित होना चाहिए । ...दलित आत्मकथाएँ मनुवादियों की कलंकित नीतियों को बताने वाली सच्ची कथाएँ हैं।"[7] वे आगे इसी क्रम में लिखती हैं – "'शिकंजे का दर्द' में संताप है। दलित होने का स्त्री होने का । इसमें शोषित, पीड़ित, अपमानित, अभावग्रस्त दलित जीवन की व्यथा है। स्त्री होना ही जैसे व्यथा की बात है ।"[8] सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा स्त्री द्वारा रचित स्त्री केन्द्रित होने के साथ-साथ इस आत्मकथा में भारतीय समाज में दलित परिवार की कहानी भी परछाईं की भाँति साथ-साथ आयी है।

शिक्षकों और स्कूलों से अपेक्षा तो यह थी कि वे सभी वर्णों के छात्र-छात्राओं के साथ समान व्यवहार करेंगे वे ज्ञान के संवाहक हैं। छात्रों को ज्ञान उन्हीं के द्वारा प्राप्त होता है। मगर लेखिका ने ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया है जिससे शिक्षकों की जातिवादी मानसिकता प्रकट होती है । "सुशीला तुम आगे क्यों बैठी हो ? तुम्हें सबसे पीछे बैठना चाहिए।" फिर उन्होंने पूरी कक्षा को डाँटकर कहा था – "जिसको जिस जगह पर बैठने के लिए कहा गया है । वह अपनी जगह पर बैठेगा। कोई भी अपनी जगह नहीं बदलेगा।" गुरुजी के भय से काँपते हुए मैं अपना बस्ता लेकर बैठ गई थी ।"[9] गुरुजी शिक्षा के बजाय यह क्या संस्कार दे रहे थे? वे ज्ञान इस बात का दे रहे थे कि यह वर्णवादी समाज है। छात्र-छात्राएँ ऐसे अध्यापकों से भला क्या प्रेरणा लें जो शिक्षा देने से ज्यादा जातिभेद का बर्ताव कर रहे हैं? इसीलिए स्कूलों में अपनी शिक्षा पूरी होने से पहले ही दलित छात्र-छात्राएँ विद्यालय छोड़ देते हैं । उनकी आत्मकथा में ऐसे तमाम प्रसंग आज की पीढ़ी के लिए प्रेरक है। 'शिकंजे का दर्द' में उनके दर्दों की लंबी फेहरिस्त है।

सुशीला टाकभौरे के अछूत जाति से होने के कारण उनके अनुभव भी दूसरे दलित आत्मकथाकारों एवं दलित छात्रों जैसे ही हैं। जैसे स्कूल में घुटनों से ऊँची कम घेरवाली और पैबंद लगी फ्रॉक पहन कर जाने पर लड़कियों द्वारा मजाक उड़ाना, साफ और सही कपड़े न पहनने के कारण घुटनों के बल खड़े होकर शिक्षक से सजा पाना, स्कूल जाते समय तांगे वाले द्वारा तांगे में न बैठाना, स्कूल में बर्फ बेचने वाले का कागज में बर्फ देना जबकि दूसरी सवर्ण लड़कियों के साथ ऐसा नहीं होता था। आदि बातों से आत्मकथाकार शर्म और आत्मग्लानि से भर जाती हैं। घड़े से पानी पीने की बात हो या स्कूल की सहपाठिन रजनी अग्रवाल आग्रह से सुशीला के डिब्बे में खाना प्रेमभाव से रखती तो है मगर वे उसका खाना नहीं लेती । यह सब बातें सुशीला को मानसिक आघात पहुँचाती है। संकोचवश कह कुछ नहीं पाती। मन जाति की कुंठा से व्यथित होता है। स्कूल में होने वाले खेल-कूद और डांस के कार्यक्रमों में शिक्षकों द्वारा भाग नहीं लेने देना । ये घटनाएँ उन्हें बार-बार बहिष्कृत जाति का होने का अहसास कराती हैं और समाज में जाति भेद की विकट समस्या को दर्शाती है । इसका दलित छात्रों के कोमल मन पर विपरीत असर पड़ता है।

इसका एक सकारात्मक असर आत्मकथाकार के मन-मस्तिष्क में यह हुआ बचपन से ही उनके मन में समाज में परिवर्तन के विचार आए। इसके लिए वे पढ़ना जरूरी समझती थीं। पढ़ाई में रुचि, लगन और निष्ठा के कारण आगे पढ़ सकीं। जब उनकी पढ़ाई रोकने की बात परिवार में उठी तो उन्होंने घर में कोहराम मचा दिया था। भूख हड़ताल शुरु कर दी थी । आत्मकथाकार के ही शब्दों में - माँ, पिता और भाइयों के हाथ जोड़ती रहीं, पैर पड़ती रहीं- "लड़की मर जायेगी, कॉलेज में नाम लिखवा दो। कुछ गलत नहीं होगा।" ..... मैंने इस तरह कॉलेज में एडमिशन करवाया था । यदि मेरी तरह इमरती दीदी ने, मालती दीदी ने, रिश्तेदारों की और जाति समुदाय की सभी लड़कियों ने दृढ़ निश्चय के साथ अपनी पढ़ाई जारी रखी होती तो वे भी शिक्षा और प्रगति की मंजिल जरूर पातीं। सुविधा, अवसर और सहयोग के अभाव में वे ऐसा नहीं कर सकीं।"[10]

नानी कहतीं थीं- 'खूब पढ़-लिखकर बड़ी अफीसर बन, खानदान का नाम रोशन करना।' अभाव में

रहकर हौंसला बनाये रखना बड़ी बात थी । नानी का जीवन नरक से कम नहीं था। लेखिका ने बरसात के दिनों का उल्लेख किया है जब सड़कों पर कूड़े, गोबर के ढेर लग जाते थे। गला, सड़ा, गीला कचकचे मैले को साफ करते हुए वे विद्रोही हो जाती थीं, "वे भगवान को संबोधित करती हुई कहतीं - यह सब तेरी ही करतूत है भगवान। मुँह-पेट बनायी जात-पात क्यों बनाई? किसने रीत बनाई है, कभी वे भी करके देखें तब पता चलेगा।"[11] यहाँ लगता है जैसे नानी गाँधी और गाँधीवादियों से पूछती हैं कि तुम्हारे आंदोलनों ने हमें क्या दिया? कुछ नहीं दिया उल्टे हमें ठगा है।

बहरहाल यहाँ आत्मकथाकार और उनकी नानी का विरोध व्यवस्था से है, आक्रोश भगवान के प्रति है। लेखिका का वैवाहिक जीवन या दाम्पत्य जीवन सुख-दु ख का मिला-जुला संगम है- सुख की जगह दुख ही अधिक है। स्त्री मानवाधिकारों की दृष्टि से सुख से अधिक दुख ही उनके जीवन में रहे । बीस वर्ष बड़े पति सुन्दरलाल टाकभौरे आजीवन पति से अधिक एक शिक्षक ही इनके जीवन में बने रहे । फिर भी सुशीला टाकभौरे जी को इनकी छत्र-छाया में आगे पढ़ने और बढ़ने के मौके मिले। नौकरी के अवसर, सामाजिक कार्यों के प्रति रुचि उत्पन्न करना और सामाजिक कार्यक्रमों से जोड़ना। शुरुआत में मंच से बोलने का प्रशिक्षण देना। भाषण लिख कर देना। विदेश यात्रा की तैयारी करवाना । इसकी खबर समाचार पत्र में सचित्र छपवाना। हवाई यात्रा के दौरान सलाह एक पर्चे पर लिख कर देना । विवाह के बाद सुशीला द्वारा घूंघट करना पति सुन्दरलाल टाकभौरे को पसंद नहीं था- 'क्या तमाशा बना रखा है' कह कर घूंघट का विरोध करते हैं। इत्यादि बातों का उल्लेख स्वयं लेखिका ने ईमानदारी से किया है, जो उनके प्रगतिशील चरित्र को दर्शाता है। यह एक समझदार अभिभावकीय पति के संकेत हैं । लेकिन समग्रतः पूरी आत्मकथा से होकर गुजरने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि ये पत्नी के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह ठीक से नहीं करते हैं । पेशे से अध्यापक होते हुए खर्च हमेशा बेहिसाबी से करते । अपनी माँ और विवाहित बहन को अपने ही छोटे से घर में रखते। यहाँ तक कि टाकभौरे जी की माँ, बहन और बहन के पति का खाने और कपड़े धोने संबंधी कार्य आत्मकथाकार को ही करने पड़ते, साथ ही पढ़ना भी पड़ता । यहाँ तक कि नौकरी लगने पर टाकभौरे जी सुशीला से सारे पैसे ले लेते हैं । चैक पर एडवांस में हस्ताक्षर करा लेते। जरूरी खर्च-प्रतिदिन ड्यूटी पर आने-जाने का पूरा किराया भी नहीं देते । पत्नी के नाम पर मकान भी नहीं खरीदना चाहते थे। हद तो तब हो जाती है जब ये अपने बेटे की प्राइवेट नौकरी एक शराब की दुकान पर कराने के लिए तैयार हो जाते हैं। टाकभौरे जी सुशीला के विरोध को एक तरह से अनदेखा-सा कर देते हैं । बेटियाँ भी अपने पिता को समझाती हैं । टाकभौरे जी लेखिका के प्रकाशित पुस्तकों पर हुए खर्च को भी एक तरह से फिजूल खर्च मानते हैं। वास्तव में आत्मकथाकार अपने पति के सहयोग को नज़रअंदाज नहीं करतीं लेकिन वे अपने पति के बारे में लिखती हैं कि- "बस, दुख मुझे सिर्फ इस बात का था, टाकभौरे जी मेरे साथ सामान्य रूप में क्यों नहीं रहते? वे इतना अहंभाव, इतना बड़प्पन क्यों रखते हैं? मुझे इतना नगण्य क्यों मानते हैं? मैं कोई सवाल-जवाब न करूँ, जिम्मेदारी के साथ घर परिवार और नौकरी सम्बन्धी सभी काम करती रहूँ, तब वे खुश रहते थे।"[12]

वास्तव में 'शिकंजे का दर्द' में सुशीला टाकभौरे जी ने समाज में जाति, जाति-व्यवस्था के चलते पढ़ी-लिखी, लड़की के लिये योग्य वर न मिल पाना, विवाहोपरांत दाम्पत्य जीवन में सवर्ण पितृसत्तात्मकता के कटु-तिक्त जीवनानुभवों को पाठक वर्ग के समक्ष रखा है। वे अपने उद्देश्य के विषय में स्पष्ट करती हैं- "आत्मकथा लिखने का मेरा उद्देश्य समाज को उसकी सच्चाई बताना है । लोग इस सच्चाई को स्वीकार करें, इन तथ्यों को समझे, मंथन करें और भविष्य के समतावादी, मानवतावादी भारतीय समाज के निर्माण के लिए कदम-उठायें।"[13]

आत्मकथाकार समाज में दलित स्त्री की दशा के विषय में लिखती हैं- "जातिभेद का अन्याय और नारी शोषण सदियों से हो रहे हैं, ....असल में यह शिकंजा आजकल का या उस कालखण्ड का नहीं था। यह तो सदियों पुराना है जो हमारी सामाजिक व्यवस्था को पूरी तरह जकड़े हुए है। उस शिकंजे की जकड़न में रहते हुए शूद्र-अछूतों का जीवन कष्ट और अपमान से पीड़ित रहा है। साथ ही समाज में नारी की स्थिति हमेशा निर्बल असहाय रही। समाज में परम्परा के रूप में स्त्रियाँ न तो सम्पत्ति की अधिकारी हो सकती थीं और न ही घर की मुखिया। चाहे वे शिक्षित हों, स्वावलम्बी हों, सम्पन्न हों, उन्हें सभी सुविधाएँ प्राप्त हों, फिर भी घर का मालिक पुरुष ही होता है। पुरुष अपनी सत्ता को कभी ताकत से, कभी समझदारी से और कभी छल-कपट से हमेशा अपने अधिकार में रखते हैं।"[14]

इस क्रम में आत्मकथाकार अपनी बात बढ़ाते हुए दलित स्त्री की दिशा और मानवाधिकारों की दृष्टि से क्रमशः लिखती हैं- "यह बात मेरे साथ भी थी। बहुत ही सहज रूप में मैं इस स्थिति में जी रही थी। भविष्य में मेरी हालत अधिक खराब हो सकती थी, बिल्कुल निर्बल अबला की तरह। मगर मैंने समय पर अपनी स्थिति को समझा और अपने अधिकार, अपनी सत्ता को खुद अपने हाथों में लिया। इसके लिए मुझे एक लम्बा सफर तय करना पड़ा था। मैं अपने रुपयों के खर्च का हिसाब भी देखने लगी थी, अपना रूपया अपने हिसाब से खर्च करने लगी थी। अपने मान-अपमान की बात को भी आँकने लगी थी। महिला मुक्ति आंदोलन से जुड़ने के बाद ही मैं अपनी स्थिति, अपने अधिकार और ताकत को समझ सकी थी।"[15]

**संदर्भसूची -**


1. सिंह, निशांत. (2008). मानवाधिकार और महिलाएँ. नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशंस. पृ. 7
2. विधि भारती, अप्रैल-जून, 2015, अंक-83, पृ. 192
3. बल, ज्ञान सिंह. (2001). दलित दर्शन. सं. रमणिका गुप्ता. दिल्ली : नेहा प्रकाशन. वितरक शिल्पायन, दिल्ली. पृ. 28
4. टाकभौरे, सुशीला. (2011). मनोगत, शिकंजे का दर्द. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. मनोगत. पृ. 7
5. वही, पृ. 7
6. वही, पृ. 9
7. वही, पृ. 8
8. वही, पृ. 9
9. वही, पृ. 22
10. वही, पृ. 122
11. वही, पृ. 26
12. वही, पृ. 215
13. वही, पृ. 8
14. वही, पृ. 221
15. वही, पृ. 221 स्व

# पाठक के आब्जर्वेशन्स आपके लेखन को और समृद्ध करते हैं- ज्ञान चतुर्वेदी ('स्वाँग' के बहाने ज्ञान चतुर्वेदी जी से साक्षात्कार)

ललित श्रीमाली

**ल ललित श्रीमाली- 'स्वांग' उपन्यास में अद्भुत पठनीयता है। पाठक एक बार पढ़ना शुरू करता है तो पूरा करके ही दम लेता है। आप भाषा में इतनी धार लाते कहाँ से हैं ?**

**ज्ञान चतुर्वेदी** - यह प्रश्न सबसे कठिन है। आप अपनी स्किल के बारे में, अपने लेखन में इसकी जो ताकत है, भाषा या आप कहें कि और भी जो औजार इस्तेमाल करते हैं, वो आते कहाँ से हैं, या कहें कि आप अपने व्यंग्य में व्यंग्य कहाँ से लाते हैं?
ये एक लम्बी प्रक्रिया है।

एक बड़े आर्टिस्ट जो बच्चों को पेंटिंग बनाना सीखा रहे थे, उन्होंने एक सेकण्ड में हाथ घुमाया और एक परफेक्ट गोल बन गया। बच्चों ने पूछा, आप इतना परफेक्ट गोल बनाते कैसे हैं ? उन्होंने कहा कि तुम भी तीस साल तक लगातार गोल बनाओगे तो ऐसा तुम भी बनाने लगोगे; लगातार जागरूक अभ्यास जरूरी है हर कला में। भाषा भी उसी अभ्यास से आती है। हर दिन आप इसे सीखते हैं। हर दिन। हर रचना के साथ। भाषा, मेरे लिए, अपने अन्दर उठ रहे विचार को सर्वश्रेष्ठ ढंग से व्यक्त करने का साधन है। यह सब, सामने वाले के साथ उस विचार को बहुत अच्छा कम्यूनिकेट करने का एक टूल है। तो मेरे लिए भाषा ही हथियार है, एक औजार है।

सर्वश्रेष्ठ ढंग का मतलब? वो यह कि मैं जो कहना चाहता था, वह न केवल ठीक वैसा कह लिया, उसे इतने रोचक ढंग से कहा कि सामने वाले के पास वह बात न केवल पहुँची अपितु उसने उसे अपने पूरे अर्थ के साथ ग्रहण भी किया। कठिन होता है बहुत गहरी और गंभीर

बातों को खिलंदड़े अंदाज में कह पाना; **'हम न मरब'** मेरा ऐसा ही एक उपन्यास था- पूरा उपन्यास मृत्यु पर केंद्रित है, मृत्यु को लेकर बड़ी सारी धार्मिक, आध्यात्मिक और फिलासाफिकल बातें हैं पर मौत की यह कथा हँसते-हँसाते, मजे लेकर कहीं है मैंने; इस कथा का पूरा अर्थ अन्दर जज्ब होता है तो पाठक जो हंस हंसकर पढ़ रहा था इसे, एक व्यथा से भर जाता है- मेरा यह ह्यूमर और व्यंग्य जीवन की विसंगतियों को पहचानने की मेरी दृष्टि से आता है, भाषा उसमें मेरी सहायता करती है। भाषा मेरे लेखन का प्राइमरी उद्देश्य, अभीष्ट नहीं है। वैसे भी, विषय के हिसाब से मेरी भाषा (मेरे हर उपन्यास में) बदलती रही है। **'पागलखाना'** सीधी सपाट भाषा में लिखा गया उपन्यास है। उसे मैंने अभिधा में लिखा है। **पागलखाना** में कहीं कोई खेल नहीं है भाषा का जो स्वांग में हर पंक्ति में है। मेरे तीन उपन्यास बुन्देलखण्ड की पृष्ठभूमि पर हैं, बुन्देलखण्ड त्रयी है यह- पहला था **'बारामासी'**, दूसरा था **'हमनमरब'** और अब तीसरा यह, **स्वांग**। इन तीनों उपन्यासों की भाषा में बुन्देलखण्डी ह्यूमर और विट का खेल है, फ्लेवर है। इस भाषा में मानो नैसर्गिक रूप से बुनी गालियाँ भी हैं, बुन्देलखण्ड की भाषा की विशेषता है। इस तरह की गालियां जो गालियां न होकर भाषिक मुहावरा और मीडियम बनकर सामने आती हैं। बुन्देलखण्डी भाषा की जो आत्मीय, तिर्यक और मीठी मार करने वाली ताकत है, तेवर है, वो इन तीनों उपन्यासों की भाषा में पंक्ति दर पंक्ति है। और इन सबके बरक्स मेरा एक उपन्यास **'मरीचिका'** था जिसे वास्तव में एक 'पौराणिक व्यंग्य-उपन्यास' कहा जा सकता है। यह एक अलग ही कांसेप्ट पर उपन्यास है- कि इस देश में रामराज्य के नाम पर हमेशा पादुका राज्य चलाने की कोशिशें की जाती रही हैं। इसमें कल्पना है कि अयोध्या में पादुका राज चल रहा है और चौदह साल गुजर गये हैं, भगवान राम के लौटने की खबर जोरों पर है भगवान राम के वन से लौटने के पन्द्रह दिन पहले के पादुकाराज की अयोध्या की कथा है यह, वहां उस समय क्या हो रहा होगा, वो लोग क्या तैयारियाँ कर रहे होंगे जो अब तक ठाठ से अपना पादुका राज चला रहे थे? वे अचानक घबरा जाते हैं कि राम आने वाले हैं पर उनकी भी तैयारियाँ होती है। यह उपन्यास इसी कल्पना पर केन्द्रित था। अब इसे किस तरह की भाषा में कहा जाते कि व्यंग्य आ जाते और विषय और माहौल की पौराणिकता का स्वाद बरकरार रहे ? पौराणिक भाषा का अपना एक खेल होता है, जिसे मैंने, इस उपन्यास में बड़ी मेहनत और होम वर्क करके बांधा था। तो मेरे लेखन में भाषा तो वह रही है जो जब जैसा विषय होता है, जैसे चरित्र होते हैं उस हिसाब से बदल जाती है। इसके लिए बाकायदा कोशिश करता हूं मैं और वह आपके अनुभव से भी आती चली जाती है। वर्षों तक भाषा को साराह इस समझ के साथ बरतो, तब जाकर आपकी भाषा में वो धार आती है जिसकी आप बात कर रहे हैं। फिर यह पैनापन, यह धार पाठक को पहले पेज से पकड़ लेती है। आप चमत्कृत होते न कि यार **स्वांग** की भाषा में ऐसा क्या है कि मुझे इतना मजा आ रहा है? इस भाषा का आपके लेखन का सहज हिस्सा बनने बनाने में बड़ी मेहनत लगती है मित्र। यह सहजता बड़ी जटिल प्रक्रिया से होकर धीरे धीरे मिलती है। धैर्य मांगती है भाषा की तराश- यह उपन्यास (स्वांग) छः या सात रीविजन में लिखा गया है; भाषा और कहने पर बहुत सतर्क होकर काम करता हूं और करता ही जाता हूं जब तक कि मैं स्वयं संतुष्ट न हो जाऊं कि हां, अब बात बन गई! सतर्कता यह कि वाक्य में एक शब्द भी फालतू न आ जाए। ये जो पाँच छः बार का रीविजन होता है, यह इसी बात को लेकर होता है कि कहीं भी कोई चीज ढीली न रहा जाए, कहीं दोहराव न आ जाए; नए तेवर के साथ हर जगह दिखो आप, यह कोशिश रहती है और इसमें बड़ी मेहनत तो लगेगी ही। पहले मैं रचना को अपने सहज प्रवाह में लिख डालता हूं। एक अनगढ़ हीरा हाथ में आ जाता है। इसमें वो सहज भाषा आ जाती है जो इतने सालों से लिखते हुए आ गई है आपकी कलम में। अब इस हीरे को तराशना है, इसको एक-एक कोण से तराशना है ताकि

हीरा और खूबसूरत बन जाये । तराशने का मतलब है भाषा और कहने पर लगातार मेहनत? यह मैं हर रचना के साथ करता हूं अब; भाषा को लगातार, बार-बार पढ़कर और लिखकर मांजना, मांजते जाना । पहले मैं ऐसा नहीं था । यह मैंने शुरुआत में नहीं किया है । मेरे पहले दो उपन्यासों- **नरकयात्रा** और **बारामासी** में नहीं किया, उनको छोड़ दें तो इसके आगे के चारों उपन्यासों को मैनें चार-चार, पाँच-पाँच बार रिवाइज करके लिखा है । हर उपन्यास के कई ड्राफ्ट किए। जब तक मैं संतुष्ट नहीं हो गया कि अब इसमें मेरी भाषा बिल्कुल वह आ गई है जैसा मैं कहना चाहता था वो कि अब मेरा चार सौ पेज का उपन्यास भी आदमी आराम से पढ़ ले जाएगा, तब रुकता हूं मैं, वैसे तब भी एक इच्छा रह जाती है कि एक बार और पढ़ लूं क्या? पर कब तक? तब जाकर उपन्यास पठनीय और रोचक बन पाता है वरना इतने बड़े उपन्यास कोई आमतौर पर पढ़ेगा क्या ? वह दो सौ पेज पढ़कर छोड़ देगा, पचास पेज पढ़कर छोड़ देगा, दो पेज पढ़कर फेंक देगा - हां भाई, पाठक से बड़ा प्रेमी नहीं और उससे बड़ा कोई बेमुरव्वत नहीं! उसे चार सौ पेज तक बाँध ले जाना एक बहुत बड़ी चुनौती और कला है । इसकी साधना करना और इसे साधना एक कठिन बात है।

**ललित श्रीमाली - स्वांग में मुख्य रूप से राजस्व और शिक्षा विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार को चित्रित किया गया है । आप एक डॉक्टर है । फिर इतनी गहराई से यह चित्रण कैसे संभव हुआ?**

**ज्ञान चतुर्वेदी -** डॉक्टर हूं पर एक सामान्य नागरिक भी हूं । इनसे काम पड़ता रहता है। खुद सरकारी अस्पताल और उनकी अराजकता देखी है। आप जो धंधा करते हों पर मान लो कि आपका जमीन का कोई केस फँस गया तो आपको राजस्व विभाग दिख जाएगा न ? आप किसी मुकदमेबाज़ी में फँस गए तो अदालत दिख जाएगी। आप कभी अस्पताल में फँस गए तो आपको डॉक्टरी दिख जाएगी कि क्या हाल होता है यहाँ पर । और पुलिस में कहीं कोई छोटा-मोटा एक्सीडेंट भी हो गया, एक बार भी कहीं थाने में बैठना पड़ गया, आपको थाना दिख जाएगा। लेखक तो वो ही होता है जो अपने अनुभव और दूसरों के अनुभवों को अपना बना ले । किसी घटना को केवल देखने मात्र से, और देखना भी क्यों, कई बार तो अखबार में पढ़ने से, किसी से सुनकर भी, उसमें मानव मन की अपनी समझ और अपने अनुभवों से लेखक एक पूरा दृश्य मन में खड़ा कर लेता है । मैं कभी नहीं फंसा हूं इन सिचुएशन में पर घर परिवार में हो रही बातों में आ जाता है कि कि उनकी जमीन चांप ली किसी ने, अब मुकदमा लड़ेंगे, सालों गुजर जाएंगे, वापस न जाने कब मिलेगी? वगैरह-वगैरह। आपने वकीलों को देखा ही है। हो सकता है कि आपके रिश्तेदार वकील हों । आपने उनको कभी क्लाइंट से बात करते सुना होता है। आप इन सारी चीजों और अनुभवों और स्मृतियों से एक सीन क्रिएट करने की कोशिश करते हैं। बेसिकली देखिए, **स्वांग** क्या है? कोई सीधी कथा है ही नहीं इसमें। इसमें कुछ पात्र और उनका चरित्र टुकड़ों टुकड़ों में कहानी तैयार करते हैं। हर टुकड़ा रोचक है पर कहानी बड़े धैर्य के साथ असेंबल होती है, जुड़ती है इसमें । इस बहाने से अंततः कहानी बनती है हमारे बम्बू यंत्रों के असफल हो जाने की जो आपमें एक भय पैदा कर दे कि यह अराजक तंत्र हमें कहां ले जायेगा? हमारा सामाजिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, कहें कि हमारा पूरा सामाजिक तंत्रएक स्वांग मेंबदल गया है। हमारे पास धार्मिक संस्थाएँ है, पर नहीं है । उनमें भी राजनीति है । हमारे पास कालेज है, पढाई का सिस्टम है और नहीं है । इसके बावजूद अगर बच्चे पढ़ रहे हैं तो इसका श्रेय शिक्षातंत्र को नहीं उन बच्चों की ज्ञान प्राप्त करने की मुमुक्षा को जाता है, सिस्टम तो फेल हो चुका है । और इसके लिये हम आप, सब जिम्मेदार है। तो **स्वांग** हमारे इस तंत्र के फेल्योर की कहानी है। हर तंत्र, इसमें अदालतें भी आ रही हैं, न्याय का तंत्र, प्रशासन का तंत्र, कानून का तंत्र, सब । **स्वांग** केवल राजस्व तंत्र तक सीमित नहीं । इसमें एजुकेशन के स्वांग पर तो बहुत हिस्सा है क्योंकि

मेरा मानना है कि नागरिक एजुकेशन सिस्टम ही तैयार करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण है वो जिसे हम गुरुजी या टीचर कहते हैं, उसे सबसे दयनीय प्राणी बना दिया है हमने। वो बेचारा बना दिया गया है, हर जगह हें-हें करता खड़ा रहता है। जो जीवन में कुछ भी नहीं बन सका वो मास्टर बन जाता है, यह स्थिति कर दी हमने-तो **स्वांग** बेसिकली विराट तौर पर हमारे पूरे तंत्र के असफल हो जाने की कथा कहता है। ... आप देखेंगे कि हमारे समाज का मोरेलिटी का तंत्र भी खत्म हो गया है। नैतिकता का मानो कोई मूल्य ही नहीं रहा। नैतिकता की बातें बढ़ गईं और वह हमारे आचरण में मानो बची ही नहीं, और हमें इसकी परवाह भी नहीं बची, बताइये! एक आदमी अपराध करता है, दबंगई करता है, बेईमानी करता है, रिश्वत लेता है और वो समाज में आदर सम्मान का पात्र भी बन गया है, सोचिये जरा। हम उसे बड़ा तिकड़मी न मानकर हम 'बड़ा क्लेवर', बहुत चतुर आदमी मान लेते हैं कि इसने अपनी इंटेलिजेंस का कितना चतुराई से बढ़िया इस्तेमाल किया, देखो यह पोस्ट हथिया ली, देखो, ऊपर की कमाई से इतने पैसे बना लिए कि वाह !! आपके हमारे घर के सामने एक आदमी रह रहा है। वह छोटा-मोटा अफसर है। इनकम टेक्स में हैं, सेल्स टेक्स में हैं, या ऐसी ही किसी कमाऊ जगह - उसने तीन मंजिल का मकान खड़ा कर रखा है, उसके पास दो बड़ी कारें हैं, विदेश यात्राओं पर जाया करता है, और हम उसकी बड़ी इज्ज़त करते हैं। हमें खूब मालूम है कि इसका सब कुछ बेईमानी के पैसे से है। हम कभी नहीं पूछते कि तेरी जॉब में कैसे इतना पैसा आ सकता है? हमारा समाज उसको पूरी इज्ज़त देता है। ये बात अलग है कि कहीं किसी दिन वो किसी कानूनी चपेट में आ जाए, कहीं पकड़ में आ जाए, तब हम खुश जरूर होते हैं कि चलो अच्छा हुआ वो पकड़ा गया। पर आप इसलिए खुश नहीं हो रहे कि एक अपराधी पकड़ा गया। नहीं, नहीं, आप तो इसलिए खुश हो रहे हैं कि आप भी वही बनना चाहते थे पर स्साला वो बन गया पर अच्छा रहा कि पकड़ा गया - आप ईर्ष्या के मारे खुश होते हैं कि वो पकड़ा गया। यह खुशी नहीं है कि चलो एक दुष्ट आदमी को सजा मिल गई। दुष्टता को तो आपने सामाजिक स्वीकारता दे दी है। हमारे समाज का नैतिक तंत्र ध्वस्त हो रहा है। सामाजिक तंत्र ध्वस्त हो रहा है। **स्वांग** इन सबके भी एक स्वांग में बदल जाने की कहानी है। राजस्व अकेला नहीं है। वकालत है। न्याय है। ब्रॉडली मैनें देखा कि जिस पर हमारा पूरा समाज बनता बिगड़ता है वो पूरा तंत्र ही खत्म कर दिया हमने। और जो तंत्र भव्य रुप से हमारे सामने है वो बस एक स्वांग है। वो है; पर नहीं है। हमारी अदालतें हैं; पर नहीं है। हमारे पास कानून है; पर नहीं है। हमारे पास बड़े-बड़े कॉलेज है; पर नहीं है। हर चीज़ है; पर नहीं है। ये उनकी कहानी है, उनके होने और न होने की कहानी है **स्वांग**। यह एक डरावनी विडम्बना की कहानी है।

**ललित श्रीमाली - पूरे उपन्यास में एक मात्र पात्र लक्ष्मी है जो ईमानदारी में विश्वास रखती है, और अपनी में हनत के बल पर डॉक्टर बनना चाहती है । कोटरा के विपरीत पात्र का चित्रण करने की कोई खास वजह ?**

**ज्ञान चतुर्वेदी-** देखिए, जब आप बेईमान का चरित्र कहानी में लाते हैं तो यह बेईमानी का महिमा मंडन नहीं है। बेईमानी के विरुद्ध लिखने के लिये भी ऐसा ही चरित्र-चित्रण होता है। आप कहें कि आपने कोटरा के स्कूल का चित्रण किया; उसमें मैनेजर खराब है, मालिक खराब है, पर उसमें भी कुछ मास्टर चुप रहकर भी ईमानदार हैं। कुछ कर नहीं पाते पर ईमानदार हैं। समाज यही है। जैसा है, बता रहे हैं हम। उपन्यास में एक डायलॉग भी है कि बेईमानी का सिस्टम चलाने के लिए कुछ नपुंसक किस्म के ईमानदार भी चाहिए। हमारे यहाँ नपुंसक किस्म के ईमानदार बहुत से हैं, हर जगह भरे पड़े हैं। **स्वांग** में एक जुलूस निकलने का प्रसंग है; एक आदमी जो मर्डर करके बाहर निकला है, उसके जेल से रिहा होने पर उसको जुलूस बनाकर समारोह पूर्वक गाजे-बाजे के साथ घर ले

जाया जा रहा है- और इसको कोटरा के पचासों नपुंसक ईमानदार देख रहे हैं। नहीं, ये बेईमान नहीं है। इनकी प्रोब्लम यह है कि बेईमानों ने कब्जा कर रखा है सिस्टम पर। अब कोटरा का मतलब हिन्दुस्तान से ले लें। कब्जा अगर बेइमानों का हो जाएगा तो आपकी ईमानदारी किसी काम की नहीं पर ईमानदारों ने इस कब्जे विरोध करना छोड़ दिया है; कहीं कुछ गलत हो रहा है तो वे चुपचाप से उसे बर्दाश्त करना सीख रहे हैं, फिर यह सिस्टम ठीक कैसे होगा? यदि हम तंत्र पर काबिज गलत चीजों को बर्दाश्त करने लगते हैं तो तंत्र हमारा नहीं रह जाता। **स्वांग** कमोवेश यही इशारा कर रहा है। देश में ये विडंबनायें और विसंगतियां अब लगभग बर्दाश्त से बाहर हैं पर हम उनका विरोध कर नहीं रहे; हम उनसे एडजस्ट करने की कोशिश कर रहे हैं, हम चोर रास्ता निकाल रहे हैं। हम उनसे सनी मुठभेड़ से, डायरेक्ट कन्फर्टेशन से डर रहे हैं। हम कोई विरोध नहीं करते। बल्कि, आम तौर पर हमारे कोशिश है कि हम इस लूटपाट का पार्ट हो जायें। हमें दुःख है कि हम बेईमान नहीं है। हमें दुःख है कि हममें वह क्षमता और हिम्मत नहीं कि हम बेईमानी कर सके। ये सारा सोच बड़ा ही खतरनाक है। ऐसे पात्रों की कहानी पाठक में एक विद्रोह पैदा करें यह लेखक की शुभेच्छा है। लक्ष्मी के जरिये लेखक राह बता रहा है। एक पात्र सारी स्थिति का मुखर विरोध कर रहा है। वह एक लड़की है। वह अकेली नहीं। वह हमारी यंग जनरेशन है जो साथ रहकर भी विरोध कर रही है। वह सारे भ्रष्ट तंत्र को बेहद करीब से देख चुकी है। समझती है। देखा तो पंडित जी की पत्नी ने भी है और उसका मौन विरोध भी है पर वह विद्रोह नहीं कर पाती। मुझे लगा कि नौजवान पीढ़ी को विद्रोह करते दिखाया जाना ज्यादा मौंजूं और तर्क सम्मत होगा सो लक्ष्मी में वह पात्र खोजा मैंने। ये कहा जाए कि आपने और भी ऐसे पात्र क्यों नहीं क्रिएट किए ? पर वह यथार्थ न रह जाता, एक यूटोपिया क्रिएट करने वाली बात हो जाती जो **स्वांग** का अभीष्ठ नहीं रहा। उपन्यास का काम है कि विसंगतियों का चित्रण ऐसा हो कि पाठक सोचे कि बड़ा गलत हो रहा है यह सब, उसे जुगुप्सा हो जाए कि क्या हो रहा है ये ? वह भी परेशान महसूस करें कि यह क्या, सारे के सारे बेईमान! कहीं किसी भी आफिस जाओ, चपरासी से लेकर अफसर तक, या तो बेईमान या फिर नपुंसक ईमानदार, वहाँ जाओ तो कोई पूछता ही नहीं; **स्वांग** में तहसील का जिक्र है जहाँ पचासों लोग खड़े हैं, साहब से मिलने, वे मिलते ही नहीं; लोग पन्द्रह-पन्द्रह दिन से रोज आ रहे हैं कि कभी मिल जायें साहब। कोई पूछता ही नहीं। किसी को परवाह ही नहीं। तो ये सिस्टम है आपका और इसे आप बर्दाश्त करना सीख गए हैं वरना तो सिस्टम ये होना चाहिए, मैं आपसे अपाइन्मेन्ट ले रहा हूँ, मुझे उस दिन का टाईम दीजिए सर मैं उस दिन आपसे मिलने आऊँगा। मैं वहां फालतू ही खड़ा खड़ा वेट थोड़ी ही करूंगा ? आधा घण्टा वेट करा दीजिए, पन्द्रह मिनिट वेट करा दीजिए। मैं खुद डॉक्टर हूं। हम एक अच्छा डॉक्टर उसे मानते हैं जो कहता कि आप अपाइन्मेंट से आइए सर! इतने बजे आ जाइए। हम आपको देख लेंगे। जो जबरदस्ती भीड़ लगाकर बैठे रहते हैं वो डॉक्टर नहीं, ऐसे तो सरकार में बैठते हैं लोग। आप जाइए और वहां आपका नंबर कब आएगा आपको पता ही नहीं। यह तो छोटा सा उदाहरण है। सिस्टम में बड़े लेप्स है। इनका विरोध होना आवश्यक है। लक्ष्मी जैसे पात्र ही मुखर विरोध में आ रहे हैं। **स्वांग** में बहुत सारे पात्र मन में लक्ष्मी जैसे ही हैं पर उनके एक्शन की कहानी यूं सीधे दिखे नहीं है। गजानन बाबू बहुत मुखरता से इस तंत्र के खिलाफ हैं, इस हद तक खिलाफ कि पागल मान लिये गये हैं। .... जब मैं राष्ट्रपति बनूँगा तो देश को ऐसे सुधार दूँगा, वैसे सुधार दूंगा, कम से कम मन में तमन्ना तो है बदलाव के लिये। पागल कौन है ? वे जो बदलाव की सोचते भी नहीं, या यह जो बदलाव की मुमुक्षा मनचाहे पागलपन भरी बातें और प्लान सोचता रहता है ? सच है कि देश सुधारने का उनका प्लान बचकाना है। जहाँ वो कहते हैं कि हम सभी को एक भैंस देंगे, इस तरह देश में घी-दूध की नदियाँ बहा

देंगे; हां, वो जो दिवा स्वप्न देख रहे हैं, बड़ा ही मजाकिया किस्म का हो गया है। दूसरों के लिए यह मजाक है पर वो इसे पूरी ईमानदारी से सोच रहे हैं। वे क्या सोच रहे हैं - यही न कि काश ऐसा हो कि देश में घी-दूध की नदियाँ बह जाए। आप भी तो यही सोचेंगे न? हां, इस तरह के ईमानदार सोच वाले का यह हश्र भी हो सकता है आज, यह चिंता है **स्वांग** की । हर उपन्यास में कुछ चीजें अनकही छूट ही जाती हैं। हां, कुछ चरित्र और क्रिएट किए जा सकते थे शायद। कहानी यों होती तो ? ऐसा लगता है हमेशा। हर उपन्यास में होता है यह। मैं कहूँ अगर कि राग दरबारी में उस तरह से कोई स्त्री पात्र है ही नहीं जो ऐसा हो कि सिस्टम का मुखर विरोध कर रहा हो तो ? कोई स्त्री टीचर नहीं है वैद जी के शिवपालगंज के स्कूल में। यह किसी भी कृति को देखने समझने का उल्टा तरीका है जो कि ई आलोचकों को बड़ा भाता है कि ऐसा और होता, वैसा और होता। जो है, उस पर बात करो न यार ? हमने हलुआ बनाया है और आप हमसे प्रश्न करें कि इसमें खीर का स्वाद क्यों नहीं आ रहा है ? तो क्या उत्तर दें, बताइये ? यही न कि हमने खीर नहीं बनाई है, हलुए बनाया है और इसे हलुये की तौर पर मूल्यांकन करके बतायें कि वो कैसा बना है? यह बात मैं आपसे नहीं कह रहा हूँ। आपने तो **स्वांग** को बहुत गहरे में जाकर पढ़ा है। जब मेरा उपन्यास **'हमनमरब'**आया था तो कुछ समझदार लोगों ने उसकी भाषा में सतह पर तैरती हुई गालियाँ पकड़ लीं, उन गालियों का लोकभाषाई संस्कार दरकिनार करके, इस बहाने से पूरा उपन्यास पर चर्चा का नरेटिव ही बदल डालने की बचकानी कोशिश की थी। वे जानबूझकर **हमनमरब** के गहरे डिस्कशन में नहीं उतरे। उन्होंने उसकी आलोचना बस इस बिना पर करनी शुरू कर दी कि इसमें तो गालियाँ हैं जो पूरे हिन्दी साहित्य को भ्रष्ट करने की साजिश है। और आज ? आज की तारीख में वह मेरी सबसे ज्यादा बिकने वाली किताब है, इस पर लगातार बहुत सारी अच्छी बातें होती रहती हैं; कुछ लोगों ने इसे मेरा अब तक का सर्वश्रेष्ठ काम तक माना है कि कोई मौत की फिलासोफी पर ऐसा हास्य से पगा उपन्यास कैसे लिख सकता है? तो लोगों के नजरिए तो बदलते रहते हैं। मैं प्रायः परवाह नहीं करता; हमने तो यार अपना लिख दिया और उसे भूलकर आगे भी बढ़ गए हैं ऐसा, बस ऐसा। लिखा और मेरे लिखे अब वह किताब खत्म। अब आप मुझसे क्या कहे। अच्छा लगता है कि आप इतनी गहराई में जाकर प्रश्न उठा रहे हैं। जो पढ़ेगा वो ही तो प्रश्न उठाएगा। खुशी है कि आपने **स्वांग** को इतनी गहराई से पढ़ा कि आपके मन में प्रश्न उठे।

**ललित श्रीमाली - उपन्यास का एक पात्र नत्थू है। उसकी बातें बड़ी ही मार्मिक है। यह पात्र आपने कल्पना से गढ़ा या वास्तविक पात्र है ?**

**ज्ञान चतुर्वेदी -** वो पात्र मेरा दूर से ही देखा पात्र है। उसे मैंने लल्लू मामाजी के खेत पर, बड़े सुकून से मेढ़ पर घास की गठरी का तकिया सा लगाकर ऐसे इत्मिनान से लेटा देखा था कि मैं मन ही मन उससे तभी जुड़ गया था। फिर जब लिखने लगा तो उसमें और भी कई पात्र मिलते गए और नत्थू पैदा हुआ। यह अब वो नहीं जिसे मैंने तब मामाजी के मटर के खेत पर काम करते देखा था। वो नत्थू जैसा ही था, अब नहीं कह सकता। वैसे भी, वह कैरीकेचर नहीं है उस आदमी का, उसमें मैनें बहुत सारी चीजें जोड़ी हैं । उसमें मेरे बचपन में देखें सरकारी नौकर भी हैं। अपने बचपन में, मेरे पिताजी सरकारी डॉक्टर थे, घर पर नौकर हुआ करते थे। अक्सर बहुत ही डेडीकेट हुआ करते थे। उनको कुछ खास पैसा नहीं मिलता था पर उनको घर में लाख रुपये पड़े मिल जायें, वो लाकर लाख रुपये दे देंगे कि ये आपके गिरे हुए थे घर में। खुद भले ही एक-एक पैसे के लिए जुझ रहे हों पर वो बेईमानी करने की सोच भी नहीं सकते थे, ऐसे ही नौकर देखें थे मैंने। उससे ही मेरे मन में वह सीन आया कि इतने अभावों में जी कर भी नत्थू पंडित जी के खेत से एक मटर नहीं तोड़ सकता। घनघोर गरीबी में रहते हुए भी उसकी अपनी बेसिक मोरल वेल्यू हैं कि दुनिया करे पर हम ऐसा थोड़ेई कर सकते हैं,

भूखे हैं तो क्या हम चोरी कर लेंगे ? ऐसी सोच वाले देखें हैं मैनें। तो इन सबको मिलाकर एक नत्थु का पात्र खड़ा किया मैंने। यही क्यों, सारे ही चरित्र कहीं-न-कहीं देखे हुए पात्र हैं पर ये किसी के केरीकेचर नहीं है। बहुत सारे चरित्र मिल गए हैं हर एक में। बिस्मिलजी, जो बेईमान पत्रकार हैं, मैनें कई सारे बेईमान पत्रकार देखे तो उनमें से एक बिस्मिल पैदा हुआ है । इन पात्रों में बहुत सारों की केमिस्ट्री मिली हुई है। जैसे कैमिकल रिएक्शन होता है न कि हमने हाइड्रोजन ली, आक्सीजन ली और पानी बन गया । अब पानी में न आप हाइड्रोजन देख पाते, न आक्सीजन, एक नई चीज है पानी, दोनों से अलग। ऐसे ही ये सभी पात्र हैं जो कई पात्रों से मिलकर पैदा हुए हैं। मेरे मन में न जाने कब से चल रहे होंगे ये सब पर कथा में एक कैमिस्ट्री बनी और ये सब मिलकर एक नया पात्र बन गये। कथा कहने का तो यही तरीका है। यदि आप किसी घटना को सीधे-सीधे ही लिख डालेंगे तो यह रिपोर्टिंग कहलाएगी, कथा नहीं बन सकेगी। इसे कथा बनाना है तो खड़े करना पड़ता है ऐसे पात्रों को।

**ललित श्रीमाली - दरोगा जी को यह विचार क्यों आया कि नेताओं की नस्ल यही रोक देनी चाहिए ?**

**ज्ञान चतुर्वेदी** - यह दरोगा जी का विचार नहीं है। दरोगा जी के थ्रू लेखक के व्यंग्यकार ने कहलवाया है। और मेरा भी क्यों, मैं सोचता हूँ कि कुछ इस जैसा ही सब कहते हैं। तथाकथित नेताओं की हरकतें ऐसी हैं, क्या करें, बताइये ? जो खुद को नेता कहते हैं वो नेता तो है ही नहीं। नेता आफ्टर आल आपका प्रतिनिधि होता है। आपके दुःख-सुख का साथी। जो आपके दुख-सुख को समझे, आपके दुःख का निदान खोजने की कोशिश करे वो नेता है, और ये ? आजकल जो नेता कहाते हैं वो नेता तो नहीं है, यह पक्का है, वे कुछ अलग ही चीज हैं।

होता यह है कि जब आप व्यंग्य उपन्यास लिखते हैं, तो बहुत सारी चीज़ें जो आप कहना चाहते है, वो एक सटीक पात्र द्वारा और सटीक सिचुएशन में कह लेते हैं। यह सब लेखक ही तो कह रहा है। लोग इनसे परेशान हो चुके हैं। वैसे लोग तो थानेदार से भी परेशान हो चुके हैं। थानेदार भी दूध का धुला नहीं है। पर मैंने क्या किया ? एक बदमाशी यह की, कि एक बहुत कमीने आदमी से (थानेदार ऐसा ही चरित्र है, बहुत ही कमीना आदमी, उस आदमी से) कहलवाया कि नेताजी बहुत कमीने हैं। एक कमीना कह रहा है यह बात, सोचिए कि नेतागिरी इस हद तक पहुँच चुकी है जहाँ कमीना भी आपसे वितृष्णा करता है । कमीनेपन की पराकाष्ठा को प्रकट करने के लिये मैंने इस संवाद को थानेदार से कहलवाया, शायद। लेखक नसबंदी के बहाने कह रहा है कि ऐसे नेता बनने बंद हो जाने चाहिए। ये पैदा ही न हों, लेखक का यूटोपिया है यह । दिवास्वप्न है कितने भी बहुत अच्छे अफसर हो जाएं, बहुत अच्छे नेता हो जाएं, सब कुछ बहुत अच्छा हो जाए- कहीं न कहीं यह विचार तोमन में है न ? इच्छा मन में है तभी यह संवाद आया । लोग कहेंगे कि आप खराब नेताओं की बात क्यों करते हैं ? जवाहरलाल नेहरू की बात क्यों नहीं कर रहे ? महात्मा गाँधी की क्यों नहीं बात कर रहे ? आप नेगेटिव चीजें, गलत चीजें ही क्यों ढूँढ़ते हैं ? ऐसी बातें व्यंग्य के बारे में कहने वाले भी हैं । यार, हम गलत को ठीक करने के उद्देश्य से ही तो बात कर रहे हैं न? अन्ततः अच्छाई स्थापित करने के लिए पहले कचरा तो हटाना पड़ेगा । अगर मुझे भगवान स्थापित करने हैं तो उस जगह की पहले सफाई तो करनी होगी न ? तभी तो भगवान स्थापित होंगे। ये सफाई करना ही व्यंग्यकार का काम है। स्वांग में आते ये, और ऐसे डायलॉग नकारात्मक नहीं। कहने वाले कहें, कहते रहें कि आप तो केवल नेगेटिव ही नेगेटिव कहते हो; इतना अच्छा भी तो हो रहा है, फलानी जगह अच्छा हो रहा है, हमारा नेता तो बहुत अच्छा है। होगा। है, तो यह बहुत अच्छी बात है पर हम बात वहां की कर रहे हैं जहाँ गंदगी पड़ी है, और यह यत्र यत्र सर्वत्र टाइप है। यार हम कैसे निगेटिव हुये, बतायें ? क्या इसीलिए कि हम चाहते हैं कि एक ऐसा तंत्र हो कि न्याय के लिए चालीस

साल न भटकना पड़े, वह हमें तुरन्त मिले ? अदालतों की अपनी समस्याएँ हो सकती हैं, पर हम कितने परेशान हैं, हम उसकी बात करते हैं। व्यंग्यकार के बारे में कहा जाता है कि वो तो केवल बीमारी की बात करते हैं। जैसे कोई डॉक्टर से कहे कि तुम तो बीमारी की बात करते हो स्वास्थ्य की बात ही नहीं करते ! पर मेरे सामने बीमारी की चुनौती है, उससे जूझे बिना स्वस्थ हो पाना संभव है क्या? पहले गंदगी हटे तभी तो अच्छी चीज के लिये जगह बने।

**ललित श्रीमाली – "यह पूरे देश का सच है मास्साब। पूरा देश कोटरा है और हर तरफ सरपंच जी की संतानें हैं।" आप क्या कहना चाहते हैं ?**

**ज्ञान चतुर्वेदी** - देखिए, बुनियादी तौर पर एक बड़ी कहानी, बड़ी कथा कहने बैठे हैं हम, स्वांग में। हर छोटा पात्र भी कोई बड़ा बयान कैरी कर रहा है लेखक का। हम कोटरा नामक गांव की कहानी नहीं कह रहे। हम कोटरा के बहाने अपने देश के समस्त तंत्र को समझ और समझा रहे हैं। जो कोटरा में है, वही दिल्ली में भी होगा। दिल्ली में भी, पिट गये मास्टर से थानेदार यही कहेगा कि आप चुपचाप बैठे रहो, बहुत हरामी लोग है ये लोग; हां, यही होगा। यही होता है। दिल्ली में भी यही सलाह देगा थानेदार कि कांप्रोमाइज कर लें, बड़े हरामी लोग हैं, कुछ भी कर सकते हैं, पचड़े में मत पड़िए, घर जाइए, रिपोर्ट को भी भूल जाइए और पिटाई को भी। यही लखनऊ में भी कहा जाएगा, भोपाल में भी कहा जाएगा और चेन्नई में भी- सिस्टम के मामले में भारत एक है ! मेरे **'बारामासी'** उपन्यास का अंग्रेजी अनुवाद अलीपुरा पर बात हो रही थी। एक तमिल युवक चर्चा में था। वो कहने लगा, आपने कहा जरूर है कि ये बुन्देलखंड की कहानी है पर मैं आपसे कहूँगा कि तमिलनाडु के गाँव की कहानी है **'बारामासी'**। हम यही मानते रहे हैं कि साऊथ का कल्चर तो एकदम अलग होगा, नार्थ का कल्चर अलग होगा और बुन्देलखंड का तो बिल्कुल ही अलग होगा। पर वो मेरे से कह रहे हैं कि ये तमिलनाडु के गाँव की कहानी है। इसी उपन्यास के बारे में एक बार मुझे पंजाब से फोन करके किसी बुजुर्ग पाठक नेने कहा था कि सर, ये तो मेरे पंजाब के गाँव की कहानी है। तो जब आप ऐसी कोई कथा लिखते हैं, वह लोकल न होकर ग्लोबल हो जाती है। ऐसे ही **स्वांग** है। ये भी एक गाँव की कहानी नहीं है, पूरे देश की कहानी है। जब तक आपका व्यक्तिगत सार्वभौमिक नहीं बन जाता तब तक रचना बड़ी नहीं होती। आपका स्वांतः सुखाय या स्वातः दुखाय जो भी कह ले, जब तक वो सबका सुख, सबका दुख नहीं बन जाता तब तक रचना बड़ी नहीं होती। ऐसे नहीं कि आप इसके लिये बाकायदा कोई योजना बनाते हो, कोई अलग से कोशिश करके हो, नहीं, बस आप ईमानदारी और पूरी शिद्दत से कथा में उतरते हैं तो ये वाली बात आ जाती है।

मूलतः यह कोटरा की कहानी नहीं, यह उस स्कूल के प्रिंसीपल की कहानी भी नहीं है; मूलतः यह भारत की कहानी है। इसे कोटरा तक सीमित मान लेंगे तो यह आपका बचकानापन होगा। ...और ये भारत के एक गाँव मात्र की कहानी भी नहीं, यह शहर की कहानी भी है। हर शहर में छोटे-छोटे गाँव बसे हैं; शहर का हर मोहल्ला एक गाँव है और हर मोहल्ले के स्वघोषित सरपंच हैं, हर मोहल्ले में ऐसे विद्यालय हैं। तो **स्वांग** पूरे भारत की कहानी है, केवल गाँव तक सीमित नहीं।

**ललित श्रीमाली - इस देश में जो शख्स आज भी गाँधी जी को भूला नहीं पाया हो, उसके पागल होने का और क्या प्रमाण चाहिए? इससे आप पाठकों को क्या संदेश देना चाहते हैं?**

**ज्ञान चतुर्वेदी** - जब लेखक ऐसा कहता है तो कुछ समझदार जो कुछ ज्यादा ही समझदार हैं उनको लग सकता है कि लेखक देश में ही अविश्वास पैदा करने की कोशिश कर रहा है कि यहां तो सब-कुछ खराब है !

व्यंग्यकार पर पहले भी ये आरोप लगते रहे हैं कि वो तो हर जगह बस गलत ही देखता रहता है। मैं अपना पक्ष रखते हुये कहूंगा कि इसके पीछे मेरी तीव्र

इच्छा है कि जो ग़लत है वो सब ठीक हो जाए, गाँधीजी जैसा चाहते थे देश कुछ हद तक कुछ मायनों, बुनियादी मूल्यों में उनकी सोच जैसा हो जाए। ...इसे मेरा पागलपन कह लें पर मैं यही सोचता हूँ कि गाँधी इस देश में आज भी पहले जैसे ही रिलेवेन्ट हैं। सच तो गाँधी ही है। दूसरे लोग चाहे जो बात करे,गाँधी सच है। बताते कि देश कहां आ गया है कि मुझे कहना पड़े कि गाँधी रिलेवेन्ट है। पर कह रहा हूं यह बात। जानता हूं कि खतरा है कि गाँधी की बात करोगे तो पिछड़े, दकियानूसी और विकास विरोधी मान लिये जाओगे।

स्वतंत्रता सेनानी, यदि बाद में देखे कि जो देश की केवल ट्रांसफर ऑफ पावर था, वास्तविक इंडिपेंडेंस थी ही नहीं तो ? परसाई ने लिखा कि यह ट्रांसफर आप डिश था, बस, जीमने वाले नहीं बदले। देश, अंग्रेजों के हाथों से देशी अंग्रेजों के हाथ में आ गया। आमजन के हाथ में आज भी कुछ नहीं; बल्कि ये तो और भी ज्यादा चालाक सत्ताधीश हैं जो झूठी घोषणाएं करते रहते हैं कि अब तो यह जनता का शासन, जनता के लिए, जनता द्वारा हो रहा है। डेमोक्रेसी की परिभाषा यही है न ? लेकिन ऐसा हो तो नहीं रहा। तो कौन बतायेगा कि ऐसा नहीं हो रहा ? व्यंग्यकार ही न बोलेगा तो कौन बोलेगा, बताइये ?

लोकतंत्र में सब कुछ वो हो रहा है जो तानाशाही में होता। ऐसे में गाँधी ही कोई राह सुझा सकते हैं। अब आप कहें कि आप प्रेक्टिकल नहीं, आप तो समझते ही नहीं कि दुनिया बदल गई है। अब ग्लॉबलाइजेशन है। अब फलाना है, देश में पूँजी का प्रवाह नहीं आया तो हम सब भूखे मर जाएंगे, आपकी सोच भी गांधी की तरह इरिलेवेन्ट हो गई है वगैरह। अब हमने गाँधी को बस पूजा की वस्तु बना दिया है। अब आप उनकी पूजा कर सकते हैं, उस बहाने लड़ सकते हैं, एक दूसरे पर आक्रमण कर सकते हैं, दंगा कर सकते हो; जैसे हमने भगवान को पूजा की वस्तु बना रखा है, उसके बहाने दंगे भी कर सकते हैं। तो हम गांधी को अलग-अलग तरह से इस्तेमाल करते हैं, सत्ता के लिए। गाँधी अब उसी हद तक रिलेवेन्ट है जिस हद तक हम उसका इस्तेमाल हो सके। काँग्रेस कहे कि गांधी हमारा है, बीजेपी कहे गाँधीजी हमारे हैं। जैसे कबीर के लिए हिंदुओं ने कहा कि कबीर हमारे हैं। मुसलमानों ने कहा हमारे हैं। हम तो दफन करेंगे। हिंदुओं ने कहा हम तो जलाएँगे मरने के बाद। वो वहाँ से गायब ही हो गए, धीरे से। वहाँ पर केवल फूल मिले थे कबीर का शरीर मिला ही नहीं। कबीर तो सबके थे। ऐसे ही, गाँधीजी तो सबके हैं। पर आज गाँधीजी को प्रोपर्टी बना लिया है राजनीति ने। मकान है ये मेरा; रह लेंगे इसमें, बेच बाच देंगे कभी, मुसीबत आई तो।

गाँधी प्रोपर्टी नहीं। वो एक विचार हैं। विचार प्रोपर्टी नहीं होते किसी की। विचार सुगंध की तरह है। सुगंध किसकी बपौती कहलाई ?

मैंने **स्वांग** में यह सब कहा है। हां, व्यंग्य में कुछ अलग ही ढंग से बात कही है। कहना यह चाहा है कि गाँधी आज भी बहुत रिलेवेन्ट हैं, पर उन्हें रिलेवेन्ट कहने वालो को देश में पागल समझा जाने लगा है। कह लें। पागल कहने से वास्तविकता नहीं बदलती। सच के विरुद्ध सब हो जायें, सच, सच रहेगा। सच के साथ एक आदमी भी खड़ा हो या हम उसे अकेला ही कर दें तब भी, सच तो सच ही रहेगा। झूठ के साथ चाहे लाखों लोग खड़े हो जायें वे झूठ को आथेंन्टिसिटी नहीं दे सकते। गाँधीजी अकेले भी रह जाए तो भी गाँधीजी ही है। उनका महत्त्व उतना ही है। पागल बाबा के इस चरित्र के जरिए मैनें उनकी बात की है जो अभी भी मानते हैं कि देश में बहुत कुछ बकाया है। ये आशावादी स्वर हैं।

**ललित श्रीमाली- "यह देश वास्तव में पंडित जी का है।" कहने के पीछे क्या कारण है ?**

**ज्ञान चतुर्वेदी** - तब की बात है जब मैनें लिखना शुरू ही किया था।

शुरूआती पाँचवें-छठवें या दसवें साल में मैनें एक व्यंग्य लिखा, धर्मयुग में छपा था वो, नाम था, 'यह देश शुक्ला जी का है।' ...शुक्ला जी नाम का यह चरित्र

लोगों के ट्रांसफर करवाता है, भयंकर जुगाड़ू है। किसी को कभी कोई काम पड़ता है तो शुक्ला जी को ढूँढता है। शुक्ला जी वस्तुतः बीच का आदमी हैं, विशुद्ध दलाल; अफसरी और आपके बीच का आदमी, मंत्री और आपके बीच का आदमी, व्यापारी और आपके बीच का आदमी; वो एक बिचैलिया हैं। मैंने कहा कि अब ये देश बिचैलियों का है, बस। तो ये देश किसी का नहीं है। तुम्हें भ्रम है कि ये तुम्हारा है। ये देश शुक्ला जी का है, पंडित जी का है, पंडित जी जैसे शातिरों का है। इनके हाथ में प्रशासन की नकेल है। प्रशासन की जड़ भी वो जानते हैं, कमजोरियाँ जानते हैं, कमजोर नसों को दबाना जानते हैं- तो ये देश पंडित जी का है। ये देश धीरे-धीरे हमने पंडित जी के हवाले कर दिया। यही सबसे बड़ा डर है और सबसे बड़ा भय भी पैदा करता है कि हमने हवाले भी कर दिया और हम संतुष्ट हैं कि सब ठीक चल रहा है।

**स्वांग** में कुछ कही, कुछ अनकही बाते हैं। जो अनकहा है वो और ज्यादा महत्वपूर्ण है। हां, कहा इस तरह है कि सजग पाठक अनकहे को समझ जाये। 'यह देश पंडित जी का है' कह रहा हूँ तो उसमें बहुत सारा अनकहा यह छूट गया कि पंडित जी हर जगह हैं। ये केवल स्कूल चलाने वाली बात नहीं है। और कोई जगह ही हो सकते हैं पंडित जी हैं, और जहाँ है वहाँ देश उनका है।

उपन्यास में मैनें जो नहीं कहा वो भी आप तक पहुंचे तो फिर ये बड़ा उपन्यास हो गया, बड़ी कहानी हो गई। कोशिश उसी की थी मेरी, कितना सफल हुआ ये आप बेहतर ढंग से बता सकते हैं। आपने कहा, इस उपन्यास को दो बार पढ़ा आपने। चार सौ पेज की रचना को दो बार पढ़वा ले जाना, कुछ मायने होते हैं इसके। लेखक के लिए यह बहुत बड़ी बात है। मेरा एक पाठक भी अगर ये कहे कि **स्वांग** मैनें दो बार पढ़ा है तो मेरे लिए इससे बड़ा और कोई रिवार्ड नहीं हो सकता।

लिखते समय लेखक को नहीं पता होता कि पाठक कितनी गहराई से उस किताब को पढ़ेगा। मेरे कई किताबों पर कई पाठक बहुत छोटी-सी किसी घटना को कि आपने उसमें ऐसा क्यूं किया? आपको याद तक नहीं आ रहा है और उस आदमी ने बहुत रिलेवेन्ट क्वेश्चन आपसे पूछ लिया कि आपने उस समय ऐसा क्यूँ किया? इस चरित्र को आपने ऐसा कैसे दिखाया? बड़ी खुशी होती है मुझे कि यार इसने वो वाली चीजें देखी जो मैनें शायद लिखते समय मेरे सब-कान्शियस माइंड में रही होगी, पर मैनें उस ढंग से सोचा नहीं था जिस ढंग से ये आदमी वहाँ तक पहुँच गया। आपका पाठक भी आपको बहुत सिखाता है। आप ही के लिखे सेसेवो आपको सिखाता रहता है। उसके आब्जर्वेशन्स आपके लेखन को और समृद्ध करते हैं।

**ललित श्रीमाली- सर! आपका बहुत-बहुत धन्यवाद। आपका बहुत सारा समय लिया। आभार सर!**

**ज्ञान चतुर्वेदी -** मुझे तब बहुत खुशी होती है जब, मैनें जो लिखा है उस पर मैं कुछ बोल सकूं। मैं मानता हूँ कि इस तरह के इंटरव्यू पढ़ने वाले पाठक कुछ और क्रिएटिव होंगे। यदि मेरी बातचीत पाठकों में लेखन के प्रति लगाव पैदा करें, पठन पाठन का सलीका परिमार्जित करें, पाठक को और जागृत करे, वे और ज्यादा बेहतर ढंग से व्यंग्य के मर्म को समझें तो बात करना सार्थक हुआ हमारा। **स्व**

# मास्टरबा : विडंबनाओं का यथार्थ

**पुस्तक :** मास्टरबा
**लेखक :** कुमार विक्रमादित्य
**प्रकाशक :** अंजुमन प्रकाशन, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश
**पृष्ठ :** 191
**मूल्य :** 160

**मुक्तेश्वर मुकेश**
समीक्षक

शिक्षा जो अब मौलिक अधिकार में शामिल है, निहायत जरूरी, एक सामान्य इंसान को विशिष्ट बनाने के लिए। बिना शिक्षा के इंसान उस दंतहीन मांसाहारी पशु के समान है जो चाहकर भी शिकार नहीं कर पाता है। आप उसे शिक्षा देने वाले की विशिष्टता का सहज अंदाजा लगा सकते हैं कि कैसे वह दूधिया दांत को तोड़ते, फिर उगाते और उसमें धार बनाते हें कि एक दिन वह अपने पैर पर खड़ा होगा और अपना शिकार खुद करेगा। यह उपन्यास है शिक्षा के उस परिपेक्ष्य का जिसमें शिक्षा के सम्पूर्ण कालक्रम को सुन्दर तरीके से दर्शाया गया है कि कैसे शिष्यों के जीवन में प्रकाश लाने वाले गुरु जी, शिक्षक, मास्टर और अंततः मास्टरबा बन गए। कौन इसके लिए जिम्मेवार ? समाज, सरकार स्वयं शिक्षक या छात्र।

सच ही किसी ने कहा है कि अगर आपको किसी तंत्र को अच्छे से जानना है तो आपको उसमें डूबना पड़ेगा। लेखक ने खुद को डूबकर इस उपन्यास में विद्यालय के गुरु जी, फिर "शिक्षक" तत्पश्चात "मास्टर" फिर मास्टरबा के क्रमबद्ध नामकरण, समाज में उनकी उपेक्षा और समाज की अपेक्षा पर आधारित है; को बताया है जो विद्यालय के यथार्थ परिदृश्य का उत्कृष्ट प्रतिबिम्ब है।

उपन्यास एक शिशु छात्र की जिज्ञासा से शुरू होता है। धीरे धीरे इसके घटनाक्रम आगे बढ़ते हैं जिसमें पठन-पाठन के माहौल, आपसी प्रतिस्पर्द्धा, प्रधान शिक्षक के व्यवहार, समाज में मास्टर की प्रतिष्ठा आदि अनेकानेक पहलुओं को वार्तालाप के माध्यम से चित्रित किया गया है। नियोजित शिक्षक हो या नवका शिक्षक सभी में पढ़ाने के गुण होते हैं।

कुछ शिक्षक तो विलक्षण प्रतिभा के होते हैं फिर भी सामाजिक स्तर पर उनके मान-अपमान बहस का मुद्दा बनता रहता है। योग्यता और कौशल के वनिस्पत पैसे से शिक्षक के काबिलियत को आँका जाता है।

इस उपन्यास के एक पात्र छात्र आनंद जिसने "मास्टर क्या होता है" प्रश्न पूछकर विनय बाबू से मार खायी थी उसके मन में विज्ञान शिक्षक कुंदन बाबू और संस्कृत शिक्षक रघुबंश बाबू के कर्तव्यनिष्ठता और शिक्षा के कारण आदरभाव असीमित रूप से प्रस्फुटित हो जाता है। आपसी ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिस्पर्द्धा समकक्ष नियोजित शिक्षकों के बीच भी उपन्यास में मिलता है। समकक्षों और खासकर उच्च वेतनभोगी के बीच बैर पनपना मानव मनोवृत्तियाँ है जिसे इस उपन्यास में जिस तरीके से दर्शाया गया है वह एक नायाब उदाहरण है और इसलिए तो गुरूजी मास्टरबा हो जाते हैं।

विज्ञान शिक्षक कुंदन और संस्कृत शिक्षक रघुबंश बाबू के बीच आपसी समझ एवं समन्वय का वर्णन कर विज्ञान और भाषा विषय के बीच बढ़िया तालमेल इस पुस्तक में दिखाया गया है। प्रतियोगी परीक्षा से बने शिक्षक अथवा "सर्टिफिकेट लाओ नौकरी पाओ" से बहाल नियोजित शिक्षक दोनों के किरानीगिरी की मानसिकता और गैर शैक्षणिक कार्यों में रुचि रखनेवाले शिक्षकों का विद्यालयों से पलायन कर प्रतिनियोजन की जुगाड़ और सरकारी कार्यालयों की संचिका पर बैठ जाने की प्रक्रिया का बेजोड़ वर्णन इस पुस्तक में देखने को मिलता है। यह प्रतिनियोजित शिक्षक विद्यालयों में शैक्षणिक कार्य में लगे अपने ही साथियों पर किस कदर धौंस जमाते हैं इसका प्रदर्शन "पाठक जी" नामक शिक्षक के माध्यम से यहाँ किया गया है जो यथार्थ बोध करता है।

अनियोजित यानी बेरोजगार को नियोजन यानी रोजगार देने को नियोजित कहा जाता है। नियोजित शिक्षक अर्थात प्रशिक्षित या अप्रशिक्षित को एक नियत वेतन पर बहाल करना होता है जो वर्तमान समय में सभी राज्यों में हो रहा है। शिक्षक कोई हो वास्तव में उनका क्या दोष ? दोष तो नियुक्ति प्रक्रिया का है। चूंकि यह पंचायती राज की त्रिस्तरीय व्यवस्था के तहत मुखिया, प्रमुख, और जिला परिषद् अध्यक्ष के नियुक्ति बोर्ड द्वारा बहाल किये जाते हैं जिनका आधार अंक होता है न कि प्रतियोगिता परीक्षा। परीक्षा में अंक कैसे आते हैं यह बात किसी से छुपी नहीं है, इस बात को लेखक ने बहुत सहज तरीके से दर्शाने का प्रयास किया है। कुंदन और रघुबंश बाबू जैसे योग्य और उच्च योग्यताधारी शिक्षक और नकली व फर्जी अंक पत्रों पे बहाल शिक्षक दोनों का नियोजन इन्ही कमेटियों के द्वारा की जाती है। इसलिए पढ़ाने और नहीं पढ़ानेवाले एक ही पद के शिक्षकों के बीच बराबर विवाद होना रोजमर्रा का दृश्य विद्यालयों में दिख जाता है। शिक्षक दिवस जैसे पवित्र दिन पर आनंद और अन्य छात्रों के समक्ष ही शिक्षकों की मारामारी इसी का परिणाम था। फर्जी मास्टर की परिभाषा भी उपन्यास में बखूबी गढ़ा गया है।

लेखक ने संतोष सर के बोलने, भोलापन और हज़िरजवाबी अंदाज से ना सिर्फ छात्र बल्कि शिक्षकगण एवं पदाधिकारी भी खूब मज़ा लेते हैं। इस उपन्यास में संतोष सर द्वारा मनोरंजन का भरपूर तत्त्व परोसा गया है। प्रधान शिक्षक जो नियमित है, अच्छी पगार पाते हैं फिर भी विविध रूपों में कमाने का स्रोत ढूँढा जाना और निम्न स्तर तक चला जाना शिक्षक की नैतिकता के पतन का द्योतक है।

बस में नवका शिक्षक, नियोजित शिक्षक के अस्तित्व पर जैसे ही कोई चर्चा होती है, सबके सब एक साथ होकर मास्टरबा को कोसना शरू कर देते हैं जिसकी जड़ नियोजन प्रक्रिया में जमी हुई है। हालांकि यह भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि संतोष बाबू अपनी शैक्षिक मजबूरी को सबके सामने रखने में नहीं हिचकते हैं वहीं मीनू मैडम, श्रुति मैडम, प्रभाकर जैसे शिक्षक पढ़ाने से कतराते हैं। प्रधान शिक्षक के द्वारा कक्षा में नहीं पढ़ाने का फायदा ये कामचोर शिक्षक खूब उठाते हैं। संतोष बाबू द्वारा एक निरिक्षी पदाधिकारी को प्रधान शिक्षक समझकर

"पैर भारी" या "भारी-पैर" की परिभाषा देते हुए जो कुछ बताया गया वह भोलेपन में ही सही लेकिन विद्यालय के गैर-शैक्षणिक वातावरण का कच्चा चिट्ठा है।

कुछ शब्दों का प्रयोग जैसे पिपियाना, ऑनर्स मजबूत, फरियाबाजी, तीन जिस्ता आदि शब्द आपको मुस्कुराने के लिए वाध्य करता है। हाँ पदाधिकारी अर्थात साहब और सर अर्थात शिक्षक का घालमेल भी दिख जाता है । सामान्य पाठक को समझने में परेशानी हो सकती क्योंकि वे सर और साहब को एक ही मानते हैं। खैर यहाँ साहब हैं कार्यक्रम पदाधिकारी और सर हैं शिक्षक।

एक प्रसंग में कार्यक्रम पदाधिकारी कार्यालय के करतूतों और दोहन तथा राशि की बंदरबांट का खुलकर बखान श्रुति मैडम एवं संतोष जी द्वारा किया गया है। एम् डी एम् मतलब मध्याह्न भोजन की राशि और प्राप्त खाद्यान की लूट-खसोट की चर्चा पुस्तक में की गयी है जिसमें पदाधिकारी, शिक्षक, पत्रकार और शिक्षा समिति सभी हिस्सेदार हैं। प्रायोगिक परीक्षाओं में अंक देने का राज भी खोला गया है। प्रायोगिक परीक्षा में कैसे अंक प्रदान किये जाते हैं, इसका पूरा हिसाब किताब प्रधान शिक्षक से लेकर चपरासी तक को उपन्यास में जगह दी गई है । प्रधान शिक्षक अंकों के बदले उगाही किये गए रकम को आपस में नहीं बांटते जबकि मुखबिलास मॉडल को मीनू मैडम ने सराहना की है जो "सबका पाप सबका साथ" पर आधारित था। कुंदन और रघुबंश बाबू ईमानदार शिक्षक हैं उन्हें किसी तरह का प्रलोभन डिगा नहीं सका लेकिन वैसे शिक्षक जिन्हें लालच था वो इन दोनों से खफा हो गए । हद तो यह हो जाती है जब वे सेवानिवृति के अवसर पर विदाई खर्च हेतु रखे रूपये भी रख लेते हैं और हिसाब बराबर के देते हैं।

निक्क में शिक्षकों के बारे में छात्रों द्वारा बोर्ड पर लिख दिया जाता है– तीन शिक्षक, एक मैडम और तीन गदही इस विद्यालय में है, यह शैक्षणिक गिरावट की पराकाष्ठा है । कुंदन जी का सामना अपने विद्यालय के बेईमान प्रधान शिक्षक से तो रोज होता है पर जब इंटर और मैट्रिक परीक्षा के वीक्षक बनकर दूसरे विद्यालय में जाते हैं तो वहाँ के प्रधान शिक्षक सह केन्द्राधीक्षक भी एक खुर्राट बेईमान के रूप में सामने मिलते हैं जिनकी हरकत बेमिशाल थी क्योंकि वे नाश्ते के पैसे भी काटकर जेब में रख लेते हैं।

उपन्यास के उत्तरार्द्ध में विधायक/ आर. डी. डी. ई/ नियोजित शिक्षकों की वेतनादि की न्यायिक लड़ाई को समेटने का प्रयास किया गया है परन्तु व्यवस्था से हारकर न्यूनतम वेतन पर अपने भविष्य की असुरक्षा पर जीवन की बलि चढाने वाले नियोजित शिक्षकों में कुछ तो सेवा निवृत्त हो गए और उन्हें कुछ भी नहीं हासिल हुआ । सरकार ने ऐसा ताना बाना बुना कि न्यायलय से भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी । उन अवकाश प्राप्त शिक्षक के सामने एकतरफ भूखमरी तो होगी ही दूसरी तरफ पारिवारिक बोझ जो उन्हें जल्दी ही समाज से उस एकांत के तरफ ले जाएगा जहां वह अपना मुंह छुपा सके।एक मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करके लेखक ने बहुत बड़ी बात को सामने लाने का प्रयास किया है।

उपन्यास के अंत में जब कुंदन सर प्रधान शिक्षक पद पर अन्य विद्यालय में पदस्थापित होते हैं तो घटनाएं द्रुत गति से बदलती है। विद्यालय के शैक्षणिक माहौल को सँभालने, ईमानदारी से काम करने की सजा पदाधिकारी और अभिभावकों के धरना, प्रदर्शन और निलंबन के रूप में मिलता है। "मास्टरबा" संबोधन को शब्दवाणों से बींधना पड़ता है । कर्मठता और योग्यता सभी नाकाफी होते हैं शिक्षातंत्र और छात्रवृत्ति भोगी जनसमुदाय के समक्ष जो पढ़ाई से ज्यादा, लाभ मिल रहे योजनाओं को समझते हैं। अचानक कुंदन सर के सामने आनंद नामक वही आज्ञाकारी छात्र जो प्रधान सचिव के रूप में प्रकट होते हैं और तंत्र के सभी घटक उनके अनुकूल हो जाते हैं। अब सारे गिले शिकवे गौण हो जाते हैं और सभी कर्मचारी और पदाधिकारी उनका गुणगान करने लगते हैं जो बताता है कि अफसरशाही तंत्र पर

कितना हावी है । समय तुरंत करवट लेता है आनंद ने कुंदन सर को पुनः प्रतिष्ठा दिलाने में जो भी किया वह बताता है कि अभी भी शिक्षकों के लिए कुछ आश बची है, पर शिक्षक को भी कुंदन सर बनना होगा और छात्र को भी आनंद जैसे जिज्ञासु और समर्पण दिखाना होगा ।

कुमार विक्रमादित्य ने मास्टर की अस्मिता और आदर्श को ऊँचा उठाने का भरसक प्रयास किया है, परन्तु उनके द्वारा शिक्षकों की प्रतिस्पर्द्धा, बेईमानी, शिक्षकोवृत्ति से पलायन पर सत्यता से आघात किया गया है । उपन्यासकार ने अपने आत्मपरिचय में स्वयं को शिक्षक बताया है इसलिए "मास्टरबा" के विभिन्न स्वरुप को अतिनिकट तक अनुभव किया है । भोगा हुआ यथार्थ के कारण जिस दंश को उसने झेला है। इसलिए यह उपन्यास सही उद्देश्य की और बढ़ता चला गया है । मास्टरबा उपन्यास में कुछ प्रसंगों को मनोरंजक बनाने का प्रयास भी है, परन्तु कुछ चीजें खटकती भी हैं । जैसे आनंद के फौजी पिता द्वारा अपने साथियों के साथ पीने/ पिलाने चखना और पैग उपन्यास के कथा के नजरिये से प्रसंगहीन है क्योंकि कुछ राज्यों में शराबबंदी कानून लागू है । साथ ही प्रधान शिक्षक और उनके सहयोगी शिक्षकों के बीच प्रधान के क्रियाकलाप पर कई बार गरमागरम वाद विवाद और मारपीट की नौबत का आना घटना की पुनरावृत्ति है जो उपन्यास के प्रवाह को रोकने का प्रयास करता है । इन बातों को अगर छोड़ दिया जाय तो उपन्यास पठनीय है और शिक्षा के कई आयामों को समेटता है जहां समाज के सभी घटक और सरकार को ध्यान देने की आवश्यकता है वरन शिक्षक संवर्ग इस उपन्यास को कहाँ तक समेट पाता है यह तो समय बातएगा ।

आशा है लेखक की कलम सतत चलती रहे और कई अन्य कथानक पर भी पाठक का प्यार इन्हें मिलता रहेगा । कुमार विक्रमादित्य ने कम उम्र में अपनी लेखनी के माध्यम से अपनी लेखकीय क्षमता को सबके सामने रखा है जो एक सराहनीय प्रयास है । **रव**

# रचनाकारों के पते -

- **जगदीश सौरभ-** सहायक प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, झारखंड केंद्रीय विश्वविद्यालय, राँची, झारखंड। ईमेल- jagdish.saurabh@gmail.com

- **दिनेश सागर-** दिनेश सागर, कक्ष क्र. - 127, बिरला - 'ब' हॉस्टल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)। ईमेल- dineshsagarbhu19@gmail.com

- **रमेश गोहे-** सहायक प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़। ईमेल- rameshggvhindi@gmail.com

- **डॉ. सुनील कुमार 'सुमन'-** सहायक प्रोफ़ेसर, हिन्दी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र । ईमेल – drsunilsuman@gmail.com

- **इन्दु बारौठ (चारण)-** लंदन में संस्कृत, हिन्दी के रुप मे अनुवादिका के रुप में कार्यरत । कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हिन्दी, संस्कृत परीक्षा मूल्यांकन विशेषज्ञ । ईमेल - indu.barot@yahoo.in

- **जगदीश पंकज-** कहानीकार व कवि, सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया में वरिष्ठ प्रबन्धक के पद से सेवानिवृत्त एवं स्वतंत्र लेखन, सोमसदन, 5/41 सेक्टर 2, राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद, गाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश । ईमेल- jagdishjend@gmail.com

- **पायल चतुर्वेदी-** छात्रा, बीए षष्ठ सेमेस्टर, हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़ ।

- **हरिकेश गौतम-** सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आर. एम. पी. जी. कॉलेज, सीतापुर उत्तर प्रदेश। ईमेल- harikesh.au139@gmail.com

- **अनिष कुमार सिंह-** शोध अध्येता, वानिकी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.) ।

- **ओम सुनील पंडा-** छात्र, बीए चतुर्थ सेमेस्टर, हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़ ।

- **मोहन कुमार-** शोधार्थी, हिन्दी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी । ईमेल- mohankr301@bhu.ac.in

- **डॉ. निकिता जैन-** असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली । ईमेल- nkjn989@gmail.com

- **रजनी प्रभा-** शोधार्थी, हिन्दी, द्वारा- कमलेश कुमार सिंह ग्राम-जारंगडीह, कौशल्या स्थान, पो0- ड्योढ, मुजफ्फरपुर। ईमेल- rajni.prabha22@gmail.com

- **संजय कुमार पटेल-** पी-एच. डी., शोध छात्र, हिन्दी विभाग, के.बी.पी.जी. कॉलेज, मिर्जापुर, संबद्ध महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी। ईमेल- incrediblesanjayau@gmail.com

- **डॉ. जया द्विवेदी-** एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, के.बी.पी.जी. कॉलेज, मिर्जापुर, संबद्ध महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी।

- **डॉ. अनिल कुमार-** असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली। ईमेल- dranilkumar036@gmail.com

- **डॉ. गौरी त्रिपाठी-** एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास केंद्रीय विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़। ईमेल- tripathigauri07@gmail.com

- **मुरली मनोहर सिंह-** सहायक प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़। ईमेल- muralibhuhindi@gmail.com

- **संगीता-** शोधार्थी, पी-एच.डी., हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली । ईमेल - sangeetathaku369@gmail.com

- **हरिशंकर परसाई-** हिन्दी के वरिष्ठ, कथाकार, निबंधकार व व्यंग्यकार थे ।

- **ललित श्रीमाली-** 38 A, लेन-1, विनायक नगर, रामगिरि, बडगाँव, उदयपुर, राजस्थान। ईमेल- drlalitkumarshrimali@gmail.com

- **मुक्तेश्वर मुकेश-** कहानीकार, संपादक व समीक्षक, सृजन गृह, शिवपुरी, वार्ड संख्या- 13, सहरसा। ईमेल- kvikramwriter@gmail.com

## विनम्र आग्रह -

1. कविता, कहानी, लघुकथा, उपन्यास अंश सहित सभी साहित्यिक विधाओं की रचनाएं स्वीकार की जाएंगी।
2. एक रचनाकार एक बार में चार से अधिक कवितायें न भेजें।
3. नए विषयों पर आलोचनात्मक लेख, शोध-आलेख व नई पुस्तकों की समीक्षा स्वीकार की जाएंगी। समीक्षकीय पुस्तकों का चयन पत्रिका द्वारा किया जाएगा।
4. लेख व आलोचनात्मक लेख नए विषयों पर एकाग्र हों। उसकी स्थापनाएं स्पष्ट हों। उनमें बेवजह संदर्भों की उबासी न हो।
5. रचनाएँ भेजते समय फोटो के साथ अपना संक्षिप्त परिचय अवश्य दें।
6. पुस्तक समीक्षा भेजते समय समीक्षित पुस्तक व लेखक का भी पूरा परिचय अवश्य भेजें। समीक्षकीय पुस्तक छः महीना से अधिक पुरानी न हो।
7. मौलिक रचनाएं ही स्वीकृत होंगी। मौलिकता के लिए एक संक्षिप्त घोषणा-पत्र देना होगा।
8. शोध-पत्र के लिए संदर्भ साँचा (उद्धरण) ए.पी.ए. शैली में स्वीकृत है। पाठ के अंदर पादटिप्पणी अवश्य दें।
9. रचनाएँ सिर्फ हिन्दी भाषा (देवनागरी लिपि) में और यूनिकोड (कोकिला या मंगल) फॉन्ट में टाइप की हुई ही स्वीकृत होंगी।
10. लेखकों से अनुरोध रहेगा कि अपने लिखे से पूरी तरह संतुष्ट हो जाने के बाद ही प्रकाशन के लिए भेजें। गुणवत्ता और मौलिकता का जरूर ध्यान रखें। हम बेहद सम्मान के साथ आपको प्रकाशित करेंगे।
11. रचनाएँ प्रकाशित करने का अंतिम अधिकार संपादक मण्डल के पास सुरक्षित है। अन्य किसी भी प्रकार की जानकारी के लिए हमें ईमेल (swanimhindiggv@gmail.com) करें। पत्रिका का प्रत्येक अंक ऑनलाइन माध्यम से पीडीएफ़ में गुरु घासीदास विश्वविद्यालय की वेबसाइट पर उपलब्ध रहेगा।

# विभागीय गतिविधियां

मन करता है कि समुंदर बन जाऊं मैं: प्रो. चक्रवाल

बिलासपुर। गुरु घासीदास केंद्रीय विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के साप्ताहिक साहित्यिक कार्यक्रम साहित्य वार्ता की कड़ी में विश्वविद्यालय के कुलपति और कवि प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल ने कविता पाठ किया। उनकी कविताएं जीवन के अनुभवों से जुड़ी हुई हैं। उन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति से कविता की शुरुआत करते हुए जीवन की बन जाऊं। समुद्र की गहराई, समुद्र की शांति। उसी प्रकार की शांति हमें जीवन में आवश्यक होती है।

प्रो. चक्रवाल कविता के माध्यम से जीवन के संत्रास को शांत करने की अपील करते हैं। उनकी कविताओं में आत्मीय आग्रह है और प्रेम भी है, नदी भी है, झरने भी हैं और इसी निसर्ग के बीच एक धब्बे की तरह यथार्थ। मानवता को झकझोरती व शर्मसार

सेंट्रल यूनिवर्सिटी : साहित्य वार्ता में कुलपति ने किया कविता पाठ

मन करता है कि समुंदर बन जाऊं मैं : प्रो. चक्रवाल

बिलासपुर @ पत्रिका. हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर के साप्ताहिक साहित्यिक कार्यक्रम साहित्य वार्ता की इस कड़ी में शुक्रवार को विश्वविद्यालय के कुलपति और कवि प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल का कविता पाठ हुआ।

साहित्य वार्ता

काव्य-पाठ

दिनांक : 25/02/2022

हिंदी विभाग

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

साहित्य वार्ता

के अंतर्गत एकल काव्य-पाठ

समय : 2.30 बजे दोपहर, दिनांक : 04/02/2022

अरविंद चतुर्वेद

सुपरिचित कवि-लेखक

पूर्व संपादक, सबरंग, जनसत्ता

-- आयोजक --

हिंदी विभाग

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

जुड़ने के लिए लिंक - https://meet.google.com/cnp-ewtb-yfx

साहित्य वार्ता

हिंदी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय

छायावादी कवियों की जीवनदृष्टि पर वक्ताओं ने रखे विचार

सीयू में पुनश्चर्या कार्यक्रम

लोकस्वर मीडिया नेटवर्क

बिलासपुर। छायावाद के सौ साल बीत चुके हैं। तब से लेकर आज का समय, साहित्य, संदर्भ व पाठक भी बदल चुके हैं। फिर भी आज तक छायावाद का महत्व उस का तस बना हुआ है। इस लेकर गुरु घासीदास केंद्रीय विश्वविद्यालय के एचआरडीसी के तत्वावधान में हिन्दी पुनश्चर्या पाठ्यक्रम का विषय 'छायावादी कवियों की जीवन दृष्टि' पर 11 से कार्यक्रम का आयोजन हो रहा है। जिसमें विभिन्न विद्वानें अपने विचार रखे। कार्यक्रम के प्रथम वक्ता डॉ.अखिलेश प्रधान ने छायावाद की पृष्ठभूमि में पिछली सदी के नवजागरण की सामाजिक,सांस्कृतिक चेतना को महत्वपूर्ण माना। निराला, पंत और प्रसाद की कविताओं का हवाला देते हुए डॉ. प्रधान ने बताया कि किस तरह छायावाद ने हिन्दी

Naresh Saxena

You Dr.P.M. 55 others

साहित्य वार्ता

हिंदी विभाग

कथा यूनाइटेड किंग्डम के संस्थापक ने प्रवासी साहित्य की अवधारणा पर रखे विचार

अनुभव और स्मृतियों का संसार पीछे छोड़ आए हैं आज के लेखक: शर्मा

लोकस्वर मीडिया नेटवर्क

बिलासपुर। आज के साहित्य, विशेषकर कविता में गांव को लेकर जो खटोलापन दिखाई देता है। उसका कारण ही है कि आज का कवि या कोई लेखक, कहानीकार अपनी उन जड़ों को खो चुका है, जहां उसका बचपन बीता है, जहां से उसके जीवन का अनुभव और स्मृतियों का एक भरा-पूरा संसार शुरू हुआ है। लेखक उसे पीछे छोड़ आगे है।

ने कहीं विश्व हिंदी दिवस पर गुरु घासीदास विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी में लंदन की साहित्यिक संस्था कथा यूनाइटेड किंग्डम के संस्थापक और हिंदी के वरिष्ठ कथाकार तेजेंद्र शर्मा ने हिंदी में प्रवासी साहित्य की अवधारणा पर खेर जताते हुए कहीं। उन्होंने कहा कि दूरस्थ विचार, छत्तीसगढ़ या पंजाब का कोई लेखक जब दिल्ली में बसकर अपने गांव की कहानी लिखता है तो वह भी किसी न किसी स्तर पर प्रवासी ही होता है।

कथाकार शर्मा ने लंदन में फैलते जा रहे हिंदी कथा साहित्य की लोकप्रियता का हवाला देते हुए बताया कि 1996 तक यहां के किसी लेखक के पास अपनी कहानियों का एक संग्रह तक नहीं था, जबकि बिगत चौद वर्षों में आज कोई एक लेखक लंदन में नहीं है, जिसके पी- तीन कथा संग्रह न प्रकाशित हो चुके हैं। इसके पीछे 'कथा यू के' की साहित्यिक गोष्ठियां, उसके प्रयास महत्वपूर्ण रहे हैं।

अनुभव से उठाएं साहित्य के विषय

शर्मा ने कहा कि साहित्य में इसी विमर्श, फलित विमर्श या अस्मितारी विमर्श जैसे बंटवारे साहित्य के प्रभाव को सीमित कर रहे हैं। आज के लेखक को साहित्य कि साहित्य के बाजार में उतारने उन रहे इन फ्रेमिन मुद्दों के बजाय अपने जीवन अनुभव से साहित्य के विषय उठाए। इसके बाद उन्होंने अपने लेखन के प्रेरणा स्रोत जयनंदा प्रसाद पीतिहा का उल्लेख करते हुए उनके योगदान को बताया। काला सिंहपीठ के छात्रों और अन्य विभाग के अध्यापकों की उपस्थिति में संगोष्ठी का संचालन हिंदी विभाग के अध्यक्ष प्रो केतु लाल सिंह व सम्यापक डॉक्टर विभाग के असिस्टेंट प्रो. मुरली मनोहर सिंह ने किया।

# साहित्य : कुछ पते कुछ चिट्ठियां

## हिन्दी विभाग

## गुरु घासीदास विश्वविद्यालय

(केंद्रीय विश्वविद्यालय)

कोनी, बिलासपुर, (छ.ग.), भारत, पिनकोड - 495001